सस्ती-प्रकीर्ण-माला [पुस्तक १

ब्रह्मचर्य-विज्ञान

("ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः")

लेखक

योगाचार-दर्शन, इच्छाशक्ति, आत्मसुधार

आदि के रचयिता

जगन्नारायणदेव शर्मा (कविपुष्कर)

विशारद, साहित्य-शास्त्री

भूमिका-लेखक

पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल,

अजमेर

प्रकाशक—
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर जरा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, [illegible] आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करें!

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, [illegible]

समर्पण

महामना मालवीयजी महाराज,

आप भारत-भूमि के एक जाज्वल्यमान रत्न हैं। हिन्दू-जनता आपको सनातन-वैदिक-धर्म का एक सच्चा सेवक समझती है। आप एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। विद्या-वृद्धि के लिये आपने स्वपुरुषार्थ से 'काशी-विश्व-विद्यालय' जैसा यशस्तम्भ खड़ा किया है। आप विधि-वत् ब्रह्मचर्य के पूर्ण पक्षपाती एवं गृहस्थ ब्रह्मचारी हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि ब्राह्मण, विद्या तथा ब्रह्मचर्य का आपस में कितना घनिष्ट सम्बन्ध है! एतदर्थ यह

'ब्रह्मचर्य-विज्ञान'

नामक लघु ग्रन्थ आपके ही कर-कमलों में सश्रद्धा समर्पित है। आशा है, धृष्टता पर ध्यान न देकर, इसे अवश्य स्वीकार करने की अनुकम्पा करेंगे। शम्!

भवदीय—

जगन्नारायणदेव शर्मा

उपहार

चारों ही फल सहज में, होते हैं अनुकूल ।
'ब्रह्मचर्य-विज्ञान' है, सब साधन सुख-मूल ॥
इस व्रत का पालन करो, ईश तुम्हें दे बुद्धि ।
प्रेम भेंट बस है यही, कर लो अन्तःशुद्धि ॥

भूमिका

ब्रह्मचर्य से लाभ और उसके न होने से हानि, प्रत्येक मनुष्य के अल्पाधिक अनुभव की बात है। इस विषय में पूर्ण अनुभव साधारणतः किसी को नहीं होता, क्योंकि जहाँ ब्रह्मचर्य की पूर्ण हानि होती है, वहाँ जीवन ही संभव नहीं है और जहाँ ब्रह्मचर्य का अखंड पालन होता हो, ऐसे ऊर्ध्वरेता महापुरुष के दर्शन दुर्लभ हैं। परंतु जो थोड़ा सा अनुभव प्रत्येक मनुष्य को इस विषय में होता है, उससे वह इस सत्य को जान सकता है कि "मरणं बिन्दु-पातेन, जीवनं बिन्दु-धारणात्"—वीर्य से ही जीवन है और उसके अभाव से मृत्यु। (यह बात वैयक्तिक जीवन में जितनी सत्य है, उतनी ही समाज के जीवन में भी, क्योंकि व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है।)

केवल भौतिक मृत्यु ही नहीं, सब प्रकार की मृत्यु "बिन्दु पात" से ही होती है—बिन्दुपात से बुद्धिभ्रंश होता है, धैर्य नष्ट हो जाता है, सब प्रकार के उद्योग करने की शक्ति जाती रहती है। "बिन्दु-पात" ही सब प्रकार की अवनति का मूल है और इसीसे यह समझ लेना चाहिये—"बिन्दु-धारण" ही सब प्रकार की उन्नति का साधन है। "सिद्धे बिन्दौ महायत्ने, किं न सिध्यति

भूतले !" ब्रह्मचर्य का साधन अत्यंत कठिन है; विशेष कर ऐसे समाज में, जहाँ लोगों का नित्य का कार्य-क्रम ब्रह्मचर्य-पालन के अनुकूल नहीं है। पर यह कठिन साधन जो साध सकता है, संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उसे सिद्ध न हो।

हमारे समाज के सामने इस समय अनेक ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, जिन्हें हल करना मनुष्य की बुद्धि और शक्ति के बाहर का काम हो रहा है। कहते हैं, हिन्दू-जाति के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है। पर जीवन या मरण का निर्णायक ब्रह्मचर्य है। मरणासन्न समाज के लिये ब्रह्मचर्य ही संजीवनी विद्या है ! इसको आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। बहुत से प्रश्न जो हल नहीं, हो रहे हैं, वे समाज में ब्रह्मचर्य धारण करने वालों की संख्या के बढ़ने से आप ही हल हो जायेंगे। शारीरिक तथा बौद्धिक बल का सही आधार है।

हम लोग इस विद्या को भूल गये हैं। इसलिये इसकी ओर ध्यान दिलाने के सब प्रयत्नों का होना नितान्त आवश्यक है। पं० जगन्नारायण देव शर्माजी की इस पुस्तक का इसीलिये हम स्वागत करते हैं। इसमें लेखक ने ब्रह्मचर्य की महिमा और विधि के विषय में बहुत अच्छा संग्रह किया है, जो सर्वसाधारण तथा विद्यार्थी-युवकों के लिये तो बहुत उपकारक होगा। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने ब्रह्म-

चय का विवेचन करते हुए, ब्रह्मचर्य के प्राचीन आदर्श को सामने रखा है, जिसमें वीर्य-रक्षा और उसके परम पुरुषार्थ की सिद्धि से उपयोग—दोनों का अन्तर्भाव होता है। ब्रह्मचर्य का पदार्थ और भावार्थ भी ऐसा ही है। ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करने में लेखक ने बहुत विस्तार किया है, परंतु हमारी समझ से वह व्यर्थ न होगा। इस विस्तार में प्राचीन ग्रन्थों से जो अवतरण उन्होंने दिये हैं, वे बहुत ही स्फूर्तिदायक और समय पर काम देने-वाले हैं। प्रस्तुत विषय के संबंध में सभी विचारणीय बातों का समावेश इस पुस्तक में किया गया है, जिससे पुस्तक सब के लिये बड़े काम की हुई है। ऐसी पुस्तकों का देश में जितना प्रचार हो, उतना अच्छा है। हमारे समाज में जितने अधिक लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को समझेंगे, जितने अधिक लोग उसका पालन करेंगे, हमारे समाज का भौतिक और बौद्धिक बल उतना ही अधिक बढ़ेगा। ब्रह्मचर्य का बल ही हमारी सब समस्याओं को हल करेगा।

फाल्गुन शुक्ल २,
सं० १९८३

लक्ष्मणनारायण गर्दे

लागत का ब्योरा

कागज़	५२५) रु०
छपाई	५१५) ,,
बाइंडिंग	९६) ,,
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	६७०) ,,
	१८०६) रु०

कुल प्रतियाँ ३०००

लागत मूल्य प्रति संख्या ॥-)॥।

पूर्वाभास

एतद्देश-प्रसूतस्य, सकाशाद् अग्र-जन्मनः ।

स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनुस्मृति)

उस परमपिता परमेश्वर को कोटिशः धन्यवाद है, जिसके अपार करुण-कटाक्ष से गत कई वर्षों की मेरी मनः कामना पूरी हुई। जिस ब्रह्मचर्य–विषय के ग्रन्थ के लिखने में, मैं बहुत दिनों तक व्यस्त था, वह आज निर्विघ्न समाप्त हो गया। अतएव इसके प्रस्तुत करने के सम्बन्ध की कुछ आवश्यक बातें यहाँ प्रकट कर देना चाहता हूँ:—

'ब्रह्मचर्य' बहुत ही गहन विषय है। इसके आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन करना, सरल काम नहीं। इसके निगूढ़ रहस्यों को भली भाँति प्रकाशित करने में इसके आचार्य ही कुछ समर्थ हो सकते हैं। इसकी उत्तमता तथा वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस पर वारंवार जो कुछ लिखा जाय, या जो कुछ कहा जाय, सो सब थोड़ा है।

ब्रह्मचर्य जैसे दायित्व-पूर्ण विषय पर अपनी लोलुप लेखनी चला कर, निस्सन्देह मैंने दुस्साहस का काम किया

है। यदि कोई अधिकारी पुरुष इस विषय में अपनी तेजस्विनी प्रतिभा का परिचय देता, तो मेरे विचार से विशेष उपकार की सम्भावना तथा सन्तोष की बात थी, और ग्रन्थ भी साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो पाता। इसलिये मैं महाकवि कालिदास के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर, निम्नाङ्कित उक्ति कह कर, अपनी धृष्टता के लिये स्वयं विलज्जित हूँ:—

> क्व सूर्यप्रभवो वंशः, क्वचाल्पविषया मतिः।
> तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ (रघुवंश)

कहाँ ब्रह्मचर्य जैसा सारगर्भित एवं क्लिष्ट विषय और कहाँ मैं हिन्दी का एक अल्पज्ञ तथा साधारण लेख लिखने वाला! अतएव मैंने जो पुस्तक-रचनामयी वड़नई (छोटी नाव) पर चढ़ कर ब्रह्मचर्य जैसे महासमुद्र के पार जाने का यत्न किया है, उसके लिये पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

इस ग्रन्थ को मैंने बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ लिखा है। प्रचुर समय इसके चिन्तन और मनन में लगाया है। पर जिस रूप में इसे उपस्थित करना चाहता था, उस रूप में न हो सका। अभी मुझे इस सम्बन्ध में इससे भी अधिक अवलोकन तथा सङ्कलन की आवश्यकता थी, जो समयाभाव के कारण असह्य जान पड़ने लगी। इसलिये मैंने जो कुछ हो, जैसा कुछ हो, इसे लिख डालने को ही उचित समझा।

हमारी हिन्दी-भाषा में उच्च विषयों के मौलिक ग्रन्थों

का अभी एक प्रकार से अभाव ही समझना चाहिये। चरित्र सम्बन्धी तथा धार्मिक शिक्षावाले ग्रन्थों की तो नितान्त कमी है। अतः मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ से बालक-बालिकायें, युवक-युवतियाँ तथा अनेक पुरुष-स्त्रियाँ—प्रायः सभी लोग अपने चरित्र-निर्माण में कुछ न कुछ अवश्य सहायता पा सकेंगे। जो लोग ब्रह्मचर्य की वास्तविक महिमा न जान कर घोर अन्धकार में भटक रहे हैं, बहुत सम्भव है, वे भी इसे पढ़कर प्रकाश में आने के लिये उत्सुक हो जायँ।

मैंने इस ग्रन्थ का नाम 'ब्रह्मचर्य-विज्ञान' रखा है। जो बातें इसमें दिखलाई गई हैं, वे प्रायः वैज्ञानिक और आध्यात्मिक विचारों की सत्यता पर ही दृढ़ हैं।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ सात खण्डों में विभक्त किया गया है। मैंने इन खण्डों में ब्रह्मचर्य की प्राचीन मर्यादायें, वर्त्तमान-कालिक दोषों एवं आगे के लिये सुधार सम्बन्धी विचारों को दरसाने की चेष्टा की है। फिर भी—

"दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्निर्दोषं नच निर्गुणम्। (सूक्ति)

इस संसार में कोई वस्तु दोष-हीन और गुण-रहित नहीं देखी गई। अर्थात् सब में कुछ न कुछ दोष तथा कुछ न कुछ गुण अवश्य होता ही है।

"सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु—
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।" (हितोपदेश)

एतदर्थ जिस प्रकार से हंस जल में से दूध ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार किसी पदार्थ के दूषित अंश को छोड़ कर, उसके सार को अपनाना उचित है।

अतः पाठकों से नम्र निवेदन है कि इस ग्रंथ के दोषों पर ध्यान न देकर, इसके सार को ग्रहण करें।

जो देश—जो समाज—दुःख-दायिनी दासत्व-शृङ्खला से अपनी मुक्ति चाहता है—जो धर्म अपनी विजय-वैजयन्ती भूमण्डल में उड़ाना चाहता है—जो जाति अपनी पतितावस्था से उत्थान चाहती है—जो राष्ट्र अपने को सर्वोच्च बनाना चाहता है—उसके लिये ब्रह्मचर्य ही महामन्त्र और अमोघ अस्त्र है। ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त सुख-शान्ति का साधक दूसरा उपाय कहीं है ही नहीं। जो जाति ब्रह्मचर्य के महत्व को नहीं जानती, वह अधिक दिनों तक नहीं जी सकती। मृतक से मृतक जाति भी ब्रह्मचर्य-रूपी-अमृत पान कर के संसार में अमर हो जाती है।

हमारी हिन्दू-जाति के स्त्री-पुरुषो! आप लोग अपने दिव्य तथा ईश्वर-कल्प ऋषि-महर्षियों के दिये हुये अमृत को क्यों नहीं पीते? हम सत्यता और अन्तरात्मा को साक्षी देकर कहते हैं कि एक शताब्दी के विधिवत् ब्रह्मचर्य के पालन से आपके कई शताब्दियों के दोष दूर हो सकते हैं। आप पुनः अपनी आर्य-संस्कृति का अबाध प्रचार कर के, अनर्थता का नाश कर सकते

हैं। शास्त्रों की बातें कभी मिथ्या नहीं होतीं। धैर्य, उत्साह, प्रेम, विश्वास तथा नम्रता-पूर्वक अपनी जाति में ब्रह्मचर्य का वातावरण उत्पन्न करो, फिर तो आपके उद्धार में किंचिन्मात्र सन्देह नहीं रह जायगा। हमारा प्रबल अनुरोध है कि इस ग्रन्थ को पढ़ कर ही न रह जाओ, बल्कि उसके विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने का पूर्ण व्रत लो। कदाचित् एक दो बार असफल होओ, पर अन्त में आपको सफलता अवश्य मिलेगी। इसे सत्य समझो! अपने पूर्वजों का इतिहास देखो और उनके महामन्त्र ब्रह्मचर्य का प्रचार करना, अपना सर्व-श्रेष्ठ धर्म समझो! इसी में सुख मिलेगा—इसी में शान्ति मिलेगी!

इस ग्रन्थ के लिखने के पूर्व मैंने अनेक पुराने तथा नये ग्रन्थों का एवं पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन, एवं आवश्यक सार-संग्रह किया है। अतएव मैं उनके उपदेष्टा, कर्ता तथा सम्पादक महाशयों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। क्योंकि उनके साहाय्य के विना मेरा कार्य और भी कठिन होता।

मैं अपने साहित्य-समालोचकों से सानुरोध निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ के दोषों तथा अभावों को विशेषतः दिखाने की कृपा करें। ऐसा करने से मैं कृतज्ञता-पूर्वक इसके द्वितीय संस्करण में समुचित सुधार कर देने में समर्थ हो सकूँगा।

ब्रह्मचर्य-विषय के ग्रन्थों के प्रचार की देश के कोने-कोने में, विशेष कर हिन्दुओं के घर-घर में बहुत बड़ी आवश्यकता

है। यदि ऐसे ग्रन्थ बालकों और कन्याओं के पाठ्य-क्रम में रखे जायँ, तो मेरे विचार से उनके दैनिक विद्याभ्यास, सदाचार और ब्रह्मचर्य के पालन में, बहुत कुछ कर्त्तव्य-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिये देश के सुयोग्य माता-पिता, विद्यालयों के शिक्षक-शिक्षिका, विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा सुधारक महोदयों से विनम्र विनय है कि वे इस ग्रन्थ का घर-घर प्रचार कर, लेखक को सप्रेम सार्थ अनुगृहीत करें!

यह ग्रन्थ अत्यन्त शीघ्रता में प्रकाशित हुआ है। इसलिये इसमें जहाँ कहीं संशोधन तथा मुद्रण की अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह गई हों, उनके लिये पाठक-पाठिकाओं से क्षमा-प्रार्थना है। आशा है, द्वितीय संस्करण में उचित सुधार हो सकेगा! ॐ शम्।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, नकश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

महाशिवरात्रि सं० १९८३
रामनगर-काशीराज्य

विनीत
जगन्नारायणदेव शर्मा

विषयानुक्रम

[प्रथम खण्ड]

संख्या विषय — पृष्ठाङ्क

[चतुर्थ खण्ड]

[पञ्चम खण्ड]

संख्या विषय पृष्ठाङ्क

[षष्ठ खण्ड]

[सप्तम खण्ड]

ब्रह्मचर्य-विज्ञान

ब्रह्मचर्य-वैभव

[षट्पदी छन्द]

(१)

उन्नतियों का सार धर्म का रथ है न्यारा !
सत्कर्मों का पुण्य जाति का जीवन प्यारा ॥
सज्जनता का मूल फूल है वैदिक वन का ।
सब सुख का है धाम-ग्राम है सद्गुण गण का ॥
ब्रह्मचर्य-व्रत विश्व में, कल्प वृक्ष आधार है !
इसकी महिमा से सदा, चलता सब व्यापार है ॥

(२)

ब्रह्मचर्य से दिव्य भावनायें होती हैं !
ब्रह्मचर्य से दीर्घ-यातनायें खोती हैं ॥
ब्रह्मचर्य से ज्ञान और बल नर हैं पाते ।
ब्रह्मचर्य से शान्ति-मोक्ष को हैं अपनाते ॥
ऋषियों के उपदेश को, कभी न भाई भूलिये !
रक्षा करके वीर्य की, अति स्वतन्त्र हो फूलिये ॥

—कविपुष्कर

ब्रह्मचर्य-विज्ञान

प्रथम खण्ड

१--ब्रह्म-वन्दना

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व,
उपासते, प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम।

(यजु० अ० २५ म० १३)

जो आत्मज्ञान तथा शारीरिक बल का देने वाला है—जिस की सभी लोग उपासना करते हैं—विद्वान् पुरुष जिसे प्राप्त करते हैं—जिसका आश्रय अमृत (दीर्घ जीवन) देने वाला है, और जिसके अधिकार में मृत्यु है—हम उस दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हैं। किसी भी महत्व-पूर्ण कार्य के प्रारम्भ में उस की समाप्ति के लिये, वन्दना एक आवश्यक तथा शिष्टाचार से सम्बन्ध रखने वाला वैदिक नियम है। अतः हमने भी इस आर्य-धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ को उपादेय बनाने की इच्छा से माङ्गलिक प्रार्थना की है। अस्तु।

ऊपर के मन्त्र में ईश्वर-विनय तो हुई है, पर हमारे विचार से इसमें 'ब्रह्मचर्य' की ओर गुप्त रूप से सङ्केत भी किया गया है। उसका आशय निम्न-लिखित है:—

ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य का मानसिक ज्ञान स्फुरित होता है। उसके शारीरिक बल का भी सर्वोत्कृष्ट साधन ब्रह्मचर्य ही है। सभी लोग ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ मान कर उसकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। बुद्धिमानों को ब्रह्मचर्य अत्यन्त प्रिय होता भी है। ब्रह्मचर्य से ही मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु दूर भगाई जा सकती है। इसलिये इस पवित्र वैदिक प्रार्थना में कहे गये 'ब्रह्मचर्य-रूप भगवान' को हृदय में धारण करना योग्य है!

२—ब्रह्मचर्य की व्याख्या

'ब्रह्मचर्य' के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करने से पहले, यह समझा देना अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य है क्या पदार्थ? जब तक इसके अर्थ नहीं बताये जायँगे, तब तक उसके गूढ़ भावों के समझने और समझाने में, पाठक और लेखक—दोनों को समान रूप से असुविधा होगी।

एक बात यह भी है कि जो वस्तु व्याख्या-द्वारा पहले पहल स्पष्ट नहीं कर दी जाती, उसके विषय में किये गये विचार भली भाँति हृदयङ्गम नहीं किये जा सकते। अतः 'ब्रह्मचर्य' किसे कहते हैं? यह बतलाना होगा।

वास्तव में 'ब्रह्मचर्य' एक शब्द नहीं, यह दो शब्दों के योग से बना है। एक 'ब्रह्म' दूसरा 'चर्य'—इस प्रकार तो ब्रह्म और चर्य—

इन दोनों शब्दों के भिन्न-भिन्न स्थानों पर, अनेक अर्थ होते हैं। हम पाठकों के हितार्थ कुछ को नीचे लिखे देते हैं:—

'ब्रह्म'—इस शब्द से ईश्वर, वेद, वीर्य, मोक्ष, धर्म, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु, सुख, योग, सत्य, आत्मा, मन्त्र, अन्न, द्रव्य, जल, महत्व, साधन और ज्ञान आदि का, और 'चर्य'—इस शब्द से चिन्तन, अध्ययन, रक्षण, विवेचन, सेवा, नियम, उपाय, हित, ध्येय, प्रगति, प्रसार, संयम, साधना और कार्य आदि का बोध होता है।

'ब्रह्मचर्य' बहुत प्राचीन एवं प्रभावोत्पादक शब्द है। इसके बहुत से अर्थ हो सकते हैं, जिन्हें हम ऊपर दे चुके हैं, पर हमारे वैदिक साहित्य में इसके तीन ही प्रधान अर्थ होते हैं। हमने जहाँ कहीं देखा है, इन्हीं तीनों अर्थों को ध्यान में रख कर, इस शब्द का प्रायः व्यवहार हुआ है। प्रायः उन्हीं अर्थों को लक्ष्य में रख कर, हमारा यह ग्रन्थ भी लिखा जा रहा है। अतएव हम उन्हें पृथक् नीचे स्पष्ट कर देते हैं:—

'ब्रह्म' शब्द वीर्य, वेद और ईश्वर वाचक है। और 'चर्य' रक्षण, अध्ययन तथा चिन्तन का द्योतक है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के ये तीन प्रधान अर्थ समझे जाने चाहियें। १—वीर्य-रक्षण, २—वेदाध्ययन और ३—ईश्वर-चिन्तन। पृथक्-पृथक् तो तीन अर्थ हुये, पर तत्वतः वे तीनों ही एक मूलभूत 'ब्रह्मचर्य' में सन्निहित हैं।

'ब्रह्मचर्य' का पहला अर्थ हमने 'वीर्य-रक्षण' किया है। यह अर्थ प्राचीन समय से जनता में रूढ़ि को प्राप्त हो गया है। ब्रह्मचर्य का नाम लेते ही लोगों के हृदय में वीर्य-रक्षण का भाव उठता है। यह साधन-रूप से अब भी संसार में प्रतिष्ठित है।

'ब्रह्मचर्य्य' का दूसरा अर्थ हमने 'वेदाध्ययन' किया है। यह

अर्थ वीर्य्य-रक्षण के साथ ही प्रचलित था। ब्रह्मचर्य्य की अवस्था में वेदाध्ययन एक प्रधान कार्य्य समझा जाता था। अब भी विद्योपार्जन की प्रणाली किसी न किसी रूप में सर्वत्र प्रचलित है ही।

'ब्रह्मचर्य' का तीसरा अर्थ हमने 'ईश्वर-चिन्तन' किया है। यह भी प्राचीन काल में उद्देश्य-रूप से माना जाता था। वीर्य्य-रक्षण और वेदाध्ययन की परिपाटी के साथ ही ईश्वर-चिन्तन भी होता था। अब भी लोग देवाराधन करते हैं।

ब्रह्मचर्य में वीर्य्य-रक्षण, वेदाध्ययन और ईश्वर-चिन्तन—इन तीनों बातों की सिद्धि होती है।

अर्थात् एक साथ वीर्य्य-रक्षण करने, वेदाध्ययन करने तथा ईश्वर-चिन्तन करने का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इन्हीं तीन महत्व-शाली प्रयोजनों के एकत्र किये हुये भाव से 'ब्रह्मचर्य' शब्द की संसार में उत्पत्ति हुई है।

अब हम ऊपर कहे गये तीन प्रयोजनों के समूह-रूप 'ब्रह्मचर्य' को आगे बतलावेंगे। हमने जिन आधारों पर ऊपर के अर्थ किये हैं, वे भी नीचे लिखे जाते हैं:—

कठोपनिषत्—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृतमश्नुते।"

अर्थात् वही वीर्य है—वही परमात्मा है और वही अमृत कहलाता है।

यजुर्वेद—

"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः।"

अर्थात् वही वीर्य है—वही ईश्वर है—वही जीवन है, और वही सृष्टि-कर्त्ता भी है।

ऐतरेयोपनिषत्—

"प्रज्ञानं वै ब्रह्म।"

अर्थात् वेद साक्षात् परमेश्वर है।

मनुस्मृति—

"ब्रह्मभ्यासेन चाजस्रमनन्तसुखमश्नुते।"

अर्थात् वेद के सदैव अध्ययन करने से अपरिमित सुख मिलता है।

कैवल्योपनिषत्—

"यत्परब्रह्म सर्वात्मा, विश्वस्यायतनं महत्।"

अर्थात् जो परब्रह्म है—सर्वात्मा है, और संसार का श्रेष्ठ धाम है।

वेदान्तदर्शन—

"अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।"

अर्थात् अब हम परमात्म-तत्व की विवेचना करते हैं।

ऊपर के अवतरणों से पाठक समझ गये होंगे कि 'ब्रह्म' से वीर्य, वेद और ईश्वर का बोध होता है। ब्रह्मचर्य-व्याख्या—कहने का अभिप्राय यह है कि वीर्य, वेद और ईश्वर का—रक्षण, अध्ययन तथा चिन्तन ही 'ब्रह्मचर्य' है। इन तीनों में से एक भी कम हुआ, तो ब्रह्मचर्य की सम्पूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती।

३—ब्रह्मचर्य के आविष्कारक

गायन्ति देवाः किल गीतकानि—
धन्यास्तु ये भारत-भूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु-भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(श्रीमद्भागवत)

यह वही महत्वशाली महादेश है, जहाँ की सभ्यता अपने अलौकिक गुणों के कारण, एक बार उन्नति की चरम-सीमा को पहुँच गई थी। यह वही पुण्य-प्रधान भूमि है, जहाँ का अन्तिम आलोक ग्रहण कर आधुनिक सभ्य तथा उन्नत कहलाने वाले देशों के निवासी, विश्व में अपनी विजय-वैजयन्ती उड़ा रहे हैं। वास्तव में हमारे उस गौरव-गरिमामय वैभव-विकास के आश्रय-भूत, इस देश में रहनेवाले, परम स्वार्थत्यागी और त्रिकालदर्शी ऋषि, मुनि तथा महात्मा लोग थे, जो उच्च पर्वतों की कन्दराओं और हरे-भरे वनों की कुटियों में बस कर, समस्त मनुष्य-जाति के लिये हितकर, एवं सुख-शान्तिमय उपाय सोचा करते थे। उनके सत्सिद्धान्त कोरी कल्पना (Theory) की अरक्षित भित्ति पर ही नहीं ठहरते थे, वरन् वे आदर्श विज्ञान (Science) की खरी कसौटी पर सुदृढ़ अभ्यास (Practice) द्वारा कसे जाकर ही जनता में प्रचलित किये जाते थे। यही एक मुख्य कारण था कि उनके अनुगमन से प्रजा सदा फूलती-फलती रही। उन्होंने सामाजिक जीवन को नियम-बद्ध किया। ईश्वर की सत्ता को स्थिर रखने के लिये तथा मानवी-सृष्टि को कुमार्ग-गामिनी होने से बचाने के उद्देश्य से, अनेक शास्त्रों की रचना की, और उनमें अनेक असूल्य, उच्च तथा स्वाभाविक विधान किये। उन्होंने स्वभाव-सिद्ध ब्राह्मणादि चार वर्णों और ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों की योजना की। जैसे वर्णों में ब्राह्मण, वैसे आश्रमों में ब्रह्मचर्य को प्रथमता और श्रेष्ठता का स्थान मिला। इस रहस्य-पूर्ण प्रणाली को हम उनके सर्वतोभद्र-मस्तिष्क और दिव्य-दृष्टि का सबसे बड़ा उत्पादन मानते हैं। संसार की प्राथमिक अवस्था में, वास्तव में, यह उनकी अपूर्व योग्यता

थी। अतएव ब्रह्मचर्य के मूल आविष्कारक इसी देश के प्राचीन महात्मा तथा दूरदर्शी देव-तुल्य पुरुष थे। इन्हीं के कारण कई शताब्दियों तक ब्रह्मचर्य-प्रथा का प्रचार धार्मिक रूप से भारत में ही क्या, समस्त भूमण्डल में उत्तरोत्तर बहुत दिनों तक बढ़ता गया।

काल के प्रभाव से उस सुवर्ण-युग का अन्त हो गया। भारत में आज वे महर्षि तथा सिद्ध लोग नहीं रहे, पर जिस कल्याणप्रद मार्ग को दिखला गये, वह इस पतित समय में भी उनका स्मरण दिलाता है। यदि हम अपनी अज्ञानता और अभिमान को छोड़ कर, उनकी बातों पर विश्वास और प्रेम कर, ब्रह्मचर्य-प्रणाली को पुनः उसी रूप में प्रचलित करें, तो वास्तव में हम फिर भी उनकी आत्मा को दर्शन नवीन शरीर में कर सकते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य के प्रभाव से भविष्य में हम भी वैसे ही आविष्कारक तथा सत्पुरुष हो सकेंगे।

४—ब्रह्मचर्य की प्राचीनता

ब्रह्मचर्य-प्रथा के आविष्कार-काल के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिये, विश्व का इतिहास मूक है। इसलिये यह बात निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती कि यह प्रथा अमुक समय में ही प्रचलित हुई थी। पर हाँ, इतना तो कई उदाहरणों से जान पड़ता है कि इसका सूत्रपात वैदिक काल से पहले हो चुका था। जैसा कि निम्न-लिखित मन्त्र से भी सूचित होता है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत्॥

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्य के तपोबल से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की, और इन्द्र को इसी ब्रह्मचर्य के पुण्य-प्रताप से सुरों में उच्चासन मिला ।

वास्तव में हमारे वेद-कालीन आर्यों ने इसका पूर्ण-रूप से विकास तथा सार्वभौम प्रचार किया था—उस समय की आश्रम-प्रणाली से भी यह बात स्पष्ट-स्पष्ट झलकती है। यह प्रथा पौराणिक काल तक अधिक मर्यादित रही, और यहीं फिर इसकी धीरे-धीरे अवनति होने लगी और इस दशाको पहुँची ।

सृष्टि-सम्वत् पर बहुत मत-भेद है। यदि लोकमान्य तिलक के मत से वैदिक सभ्यता का समय ८००० वर्षों से पूर्व मानें, तो भी हमारी ब्रह्मचर्य्य-प्रथा इससे विशेष प्राचीन ठहरेगी। वेदों में कई स्थानों पर ब्रह्मचर्य विषयक मन्त्र आये हैं। उनमें कहीं सङ्केत और कहीं प्रकट रूप से ब्रह्मचर्य के वर्णन हैं । प्रथम तीन वेदों में सूक्ष्म रीति से ब्रह्मचर्य का वर्णन है, पर चौथे वेद (अथर्वण) में इसका उल्लेख बहुत सार-गर्भित रूप में किया गया है, जो आगे यथास्थान दिया जायगा ।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों की गणना है। हमारे कई उपनिषदों में ब्रह्मचर्य-विषय की आख्यायिकायें आई हैं, और उन्हीं के अन्तर्गत इस सम्बन्ध के मनोहर उपदेश भी दिये गये हैं, जिन्हें हम प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर पाठकों के लिये उपस्थित करेंगे ।

वेद तथा उपनिषदों के पश्चात् पुराण, रामायण, महाभारत और विविध धर्मशास्त्र, प्रमाण-कोटि के ग्रन्थ हैं—इन ग्रन्थों में भी ब्रह्मचर्य की कथायें, पालन की शिक्षायें, विविध प्रशंसायें तथा निश्चित की हुई विधियाँ मिलती हैं । इसलिये ऐसी अवस्था में

इसकी प्राचीनता में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई विरला ही ग्रन्थ होगा, जो ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अपना भिन्न मत रखता हो, और कुछ न कुछ उपदेश न देता हो।

आज से ५००० वर्ष पहले हमारी रामायण और महाभारत के समय में भी अनेक पुरुष ब्रह्मचर्य के पालन में आदर्श स्वरूप हो गये हैं। पुरुष ही नहीं, बहुत सी स्त्रियाँ भी इस अलौकिक धर्म की दृढ़ अनुयायिनी थीं। हिन्दू-राजाओं के अधःपतन-काल में भी उस ब्रह्मचर्य का दीपक कहीं-कहीं टिमटिमा रहा था। वास्तव में ब्रह्मचर्य का इतिहास भारतीय सभ्यता के इतिहास से कम प्राचीन नहीं है। इसका उत्थान और पतन सभ्यता के साथ ही साथ होता आया।

५-ब्रह्मचर्य की महिमा

ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां, वीर्य–लाभो भवत्यपि।
सुरत्वं मानवोयाति, चान्तेयाति परांगतिम्॥
(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले मनुष्य को दिव्यता प्राप्त होती है, और साधना पूरी होने पर, परम गति भी उसे मिलती है।

ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। वाणी से उसका वर्णन करना सूर्य को दीपक से दिखाने के समान है। 'ब्रह्मचर्य' वह उग्र व्रत है, जिसकी साधना से लोग नर से नारायण हो सकते हैं। इसके पालन से अब तक अनेक लोग देव-कोटि में गिने गये। तभी तो

भगवान शङ्कर ने अपने मुखारविन्द से इस प्रकार कह कर, आदेश किया है:—

न तपस्तपइत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
उर्ध्वरेताभवेद्यस्तु, सदेवो नतुमानुषः॥

तप कुछ भी नहीं है। ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है। जिसने अपने वीर्य को वश में कर लिया है, वह देव-स्वरूप है—मनुष्य नहीं!

"एकतश्चतुरो वेदा, ब्रह्मचर्यं तथैकतः।"

(छान्दोग्योपनिषत्)

एक ओर ता चारों वेदों के उपदेश, और दूसरी ओर ब्रह्मचर्य—दोनों एक तुला पर रखकर तौले जायँ, तो दोनों पलड़े बराबर होंगे। अर्थात् ब्रह्मचर्य का महत्व वेदों से भी विशेष है।

"तेषामेवैष स्वर्गलोको, येषां तपो
ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।"

(प्रश्नोपनिषत्)

उन्हीं जनों को स्वर्ग-सुख मिलता है, जिन्होंने ब्रह्मचर्य जैसे तप का अनुष्ठान किया है, और जिनके हृदय में ब्रह्मचर्य रूपी सत्य विराजमान है।

ब्रह्मचर्यं पालनीयं, देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्यं सुरक्षितेयान्ति, सर्वलोकार्थ-सिद्धयः॥

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य का पालन करना योग्य है। देवों के लिये भी ब्रह्म-

चर्य दुर्लभ है। वीर्य की रक्षा भली भाँति होने पर, सब लोकों के सुखों की सिद्धियाँ स्वयं मिल जाती हैं।

अखण्ड ब्रह्मचारी पितामह भीष्म ने धर्मराज युधिष्ठिर को ब्रह्मचर्य-विषय का उपदेश किया है, उसमें भी इस महाव्रत की महिमा भले प्रकार प्रकट होती है। वह इस प्रकार है:—

ब्रह्मचर्यस्य सुगुणं, शृणुत्वञ्च सुधाधिया।
आजन्म मरणाद्यस्तु, ब्रह्मचारी भवेदिह॥

मैं ब्रह्मचर्य का गुण बतलाता हूँ। तुम स्थिर बुद्धि से सुनो! जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, उसे इस संसार में कुछ भी दुःख नहीं होता।

न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप!
बहु-कोटि ऋषीणाञ्च, ब्रह्मलोके वसन्त्युत॥

हे राजन्! उस पुरुष को कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। इस बात को तुम निश्चय समझो! ब्रह्मचर्य के प्रभाव से करोड़ों ऋषि ब्रह्मलोक में वास करते हैं।

सत्येरतानां सततं, दन्तानामूर्ध्व-रेतसाम्।
ब्रह्मचर्यंदहेद्राजन्! सर्व-पापान्युपासितम्॥

सत्य से सदैव प्रेम करने वाले निर्मल ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य व्रत, हे राजन्! समस्त पापों को नष्ट कर देता है।

चिरायुषः सुसंस्थाना, दृढ़संहनननानराः।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥

(हेमचन्द्र सूरि)

जो लोग विधिवत् ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे चिरायु, सुन्दर शरीर, दृढ़ कर्त्तव्य, तेजस्वितापूर्ण और बड़े पराक्रमी होते हैं।

प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपिपूज्यते ॥
(हेमचन्द्र सूरि)

ब्रह्मचर्य सच्चरित्रता का प्राण-स्वरूप है, इसका पालन करता हुआ मनुष्य, सुपूजित लोगों से भी पूजा जाता है ।

ऊपर के श्लोकों में जिस ब्रह्मचर्य के इतने गुण बतलाये गये हैं, उसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं ।

पाठक इतने से ही ब्रह्मचर्य की महिमा का अनुमान कर सकते हैं । हमारे विचार से तो ब्रह्मचर्य की यथार्थ महिमा कहने और सुनने से नहीं विदित हो सकती ! इसको तो भली भाँति वे ही जान सकते हैं, जो कुछ समय तक इस व्रत की साधना करें । क्योंकि ब्रह्मचर्य जैसे आध्यात्मिक तत्व का रस, उसके अन्तर्गत भरा रहता है । जो लोग इसके प्रेमी होते हैं, वे ही उसे पीकर उसके अपूर्व स्वाद का उचित अनुभव कर सकते हैं ।

९-धन्वन्तरि का ब्रह्मचर्योपदेश

भगवान धन्वन्तरि का नाम संसार में बहुत विख्यात है । वे आयुर्वेद के प्रचार करने वाले—पीयूष-पाणि वैद्य कहे जाते थे । ऐसा कहा जाता है कि वे मृतक को भी एक बार अपने तप तथा दिव्यौषधि के प्रभाव से जीवित कर सकते थे ।

वे ही धन्वन्तरि महाराज एक दिन शिष्यों के साथ अपने आश्रम में बैठे हुये, आयुर्वेद का उपदेश कर रहे थे । पाठ समाप्त होने पर शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि भगवन् ! कोई ऐसा एक ही उपचार बतलाइये, जिसके सेवन से सर्व प्रकार के रोगों का

नाश हो सके । आप मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये अपना सब से अनुभूत उपाय बताने की दया कीजिये ।

शिष्यों के प्रश्न को सुनकर भगवान धन्वन्तरि अत्यन्त प्रसन्न हुये, और उन्होंने कहा कि प्रिय वत्स ! तुम लोगों को हृदय से ऐसा ही एक उपचार बतलाता हूँ—इसकी सत्यता में मुझे तनिक सन्देह नहीं है । तुम लोग ध्यान देकर सुनो !

मृत्युव्याधिजरानाशी-पीयूषं परमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महद्यत्नं, सत्यमेव वदाम्यहम् ॥

मैं इस बात को तुम लोगों से सत्य-सत्य कहता हूँ कि मरण, रोग तथा वृद्धता का नाश करने वाला—अमृत रूप और बहुत बड़ा उपचार, मेरे विचार से ब्रह्मचर्य है ।

शान्तिकान्तिस्मृतिज्ञान मारोग्यञ्चापिसन्ततिम् ।
य इच्छति महद्धर्मं, ब्रह्मचर्यं चरेदिह ॥

जो शान्ति, सुन्दरता, स्मृति, ज्ञान, स्वास्थ्य और उत्तम सन्तति चाहता है, वह इस संसार में सर्वोत्तम धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करे ।

ब्रह्मचर्यं परंज्ञानं, ब्रह्मचर्यं परं बलम् ।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा, ब्रह्मचर्यैव तिष्ठति ॥

ब्रह्मचर्य सब से उत्तम ज्ञान है । ब्रह्मचर्य अपरिमित बल है । यह आत्मा निश्चय रूप से ब्रह्मचर्यमय है, और यह मनुष्य-शरीर में ब्रह्मचर्य से ही ठहरता है ।

ब्रह्मचर्यं नमस्कृत्य, चासाध्यं साधयाम्यहम् ।
सर्वलक्षणहीनत्वं, हन्यते ब्रह्मचर्यया ॥

ब्रह्मचर्यमयः भगवान् को प्रणाम कर, मैं असाध्य रोगियों

को भी साध्य बनाता हूँ। उस ब्रह्मचर्य की रक्षा से सब प्रकार का अशुभ नष्ट हो जाता है।

उनकी इन शिक्षाओं को सुन कर शिष्य-मण्डली में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा। बहुत से विद्यार्थियों ने अपने हृदय में आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा की।

अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि भगवान धन्वन्तरि जैसे वैद्य ने भी मुक्त-कण्ठ से ब्रह्मचर्य का समर्थन किया है। यदि उनके कहे पर विश्वास करके विधिवत् ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय, तो मनुष्य को किसी प्रकार का रोग नहीं हो सकता। फिर औषधियों की आवश्यकता ही क्यों कर हो सकेगी?

७—ब्रह्मचर्य-विज्ञान का समर्थन

'स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो
वै स लोकान् ज्ञानवतोऽभिसिध्यति।'

(छान्दोग्योपनिषत्)

जो पुरुष विज्ञान को बड़ा समझ कर, उसकी उपासना करता है, वह निश्चय कर के ज्ञानवान् होकर, ज्ञान वाले लोकों को प्राप्त होता है।

हमने अपने इस ग्रन्थ में 'ब्रह्मचर्य' को विज्ञान माना है। कुछ लोग इस पर आपत्ति भी कर सकते हैं। इसलिये हम इस बात को दरसा देना चाहते हैं कि हमने जो ब्रह्मचर्य को विज्ञान माना है, वह कोई नई बात नहीं है, बल्कि प्रचीन समय में भी लोग ब्रह्मचर्य को विज्ञान मानते और कहते थे। बहुत से ऋषियों ने

तो ब्रह्मचर्य को विज्ञान कह के ही पुकारा है। वास्तव में यह बात है भी ऐसी ही।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि सब से पहले इस ब्रह्म (चर्य) विज्ञान का बोध ब्रह्माजी को हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने इसका उपदेश कश्यप (प्रजापति) को दिया। फिर कश्यप जी ने मनु महाराज को इसका रहस्य बताया, और फिर मनुजी ने समस्त प्रजा को इसकी शिक्षा दी। इस के उपरान्त महामति अरुण ने उद्दालक ऋषि को इसका महत्व बतलाया।

फिर तो इस ब्रह्मचर्य-विज्ञान का सारे संसार में धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया। पिता और आचार्य लोग अपने पुत्रों तथा प्राणप्रिय शिष्यों को वंश-परम्परा से इसका उपदेश करते गये। और इस के मानने वाले तथा इसके अनुकूल चलने वाले लोग, दुःखों से छूट कर परम गति को प्राप्त हुये।

इस सम्बन्ध में एक बहुत ही उत्तम आख्यायिका है। वह इस प्रकार है:—

पुण्यश्लोक ऐतरेय ऋषि के तेजस्वी पुत्र महीदास इस 'ब्रह्मचर्य-विज्ञान' के अच्छे ज्ञाता थे। वे अपने शत्रुओं तथा दुष्ट प्रकृति वाले पतित पुरुषों से कहा करते थे कि तुम लोग मेरे ब्रह्मचर्य (विज्ञान) को न जानते हुये, मुझे क्यों कष्ट दे रहे हो। तुम्हारे दुःख देने से मेरी कुछ भी हानि न होगी, वरन् इससे तुम्हारा ही अनिष्ट होगा। क्योंकि मैंने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया है। इस प्रकार इस विज्ञान के दृढ़व्रती महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहे, उन्हें किसी बात का भय न था। और उनका तनिक

भी अनिष्ट न हो सका। उन्हें कष्ट देने वाले पहले ही नष्ट हो गये। जो पुरुष इन महीदास का अनुकरण करेगा, वह भी दीर्घजीवी होगा।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक समय में भी जो पिता या आचार्य, अपने पुत्र या शिष्य को इस सर्व-श्रेष्ठ (ब्रह्मचर्य) विज्ञान का रहस्य समझा देगा, वह अवश्य ही देश और जाति के सुधार का पुण्य प्राप्त करेगा।

८-ब्रह्मवर्चस और ब्रह्मलोक

"ब्रह्मस्यावर्तें, तन्मेयच्छतुद्रविणं,
तन्मे ब्राह्मण-वर्चसम्।"

(अथर्ववेद)

मैं ब्रह्म (वीर्य) की उपासना करता हूँ। वह मुझे बल दे और वह मुझे ब्रह्मवर्चस प्रदान करो।

जितने महाव्रत हैं, उनके पालन से उसके कर्ता को कुछ न कुछ फल अवश्य मिलता है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निष्काम-कर्म की अपेक्षा सकाम-कर्म को अधिक पसन्द करता है। यदि फल की अशा न हो, तो अनुष्ठान के पूर्ण होने में भी सन्देह ही रहता है। यही बात ब्रह्मचर्य के साथ में भी घटती है। ब्रह्मचय का पालन जिन बड़े उद्देश्यों की सिद्धि के लिये किया जाता है, उन्हें हम प्रकट कर देना चाहते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

अनेक ग्रन्थों में यह बात लिखी है—बहुत से वैदिक मन्त्रों में भी हम देखते हैं कि भाव-भरे मनोहर शब्दों में 'ब्रह्मवर्चस' के

लिये प्रार्थना की गई है। मन्वादि स्मृतियों में भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई है कि ब्रह्मचर्य के पालन का ध्येय ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति है। इसी ब्रह्मवर्चस के लिये कोटि-कोटि महर्षि और मुनीश्वर लोग अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना करते रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मवर्चस को प्राप्त कराने का ब्रह्मचर्य ही एकमात्र साधन था।

अथर्ववेद में 'ब्रह्मवर्चस' के सम्बन्ध के कई प्रभावोत्पादक मन्त्र हैं। उनमें से एक हम यहाँ उद्धृत करते हैं। उससे हमारी यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

सूर्यस्यावृत मन्वावर्ते, दक्षिणा मन्वावर्त्ते।
सामे द्रविणं यच्छतु, सामे ब्राह्मणवर्चसम् ॥

हम प्रकाश-स्वरूप परमात्मा का अनुगमन करते हैं। हम उसकी अनुकूलता की उपासना करते हैं। वह हमें बल प्रदान करे, वह हमें ब्रह्मतेज दे!

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि हम सूर्य की भाँति शरीर को प्रकाशित करने वाले ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं। उसकी सत्ता का अनुमान करते हैं। वह हमें मनोबल दें—वह हमें ब्रह्मतेज प्रदान करे।

वास्तव में वीर्य ही मनुष्य-शरीर में सूर्य है। इसी के प्रताप से यह प्रकाशित होता है। जिस दिन इस परम प्रकाश का लोप हो जाय, उसी क्षण यह घोर तम से घिर जाता है। अर्थात् वीर्य के बिना शरीर का नाश होना निश्चित है।

ब्रह्मचर्य के पालन से ही मनुष्य को ब्रह्मवर्चस की उपलब्धि होती है। ब्रह्मवर्चस नाम है—आत्म-ज्ञान का। जब तक ब्रह्मवर्चस

नहीं सिद्ध होता, तब तक 'ब्रह्मलोक' में आत्मा स्वतन्त्र होकर नहीं पहुँच सकता। अर्थात् एक साधन की सिद्धि हो जाने से दूसरे उद्देश्य की भी सिद्धि होती है।

अब पाठक ब्रह्मवर्चस क्या है, इसे तो समझ गये होंगे। इसके पश्चात् हम 'ब्रह्मलोक' का भी थोड़ा परिचय करा देना चाहते हैं।

"तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाँ सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति।"

(छान्दोग्योपनिषत्)

ब्रह्मचर्य से ही 'ब्रह्मलोक' की स्थिति है। ब्रह्मचर्य के ही द्वारा ब्रह्मलोक मिलता है। ब्रह्मचारियों का ही ब्रह्मलोक पर अधिकार है, अन्य का नहीं। जो ब्रह्मचर्य युक्त पुरुष हैं, वे सभी लोकों में विचरण कर सकते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि इस शरीर के ही अन्तर्गत 'ब्रह्म-लोक' है। ब्रह्मचर्य की निष्ठा से आत्मा को वह अवस्था प्राप्त होती है। जिस ब्रह्मचारी को आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह शरीर के भीतर के दूसरे लोकों में भी पहुँच सकता है। अर्थात् उसका अनुभव सब प्रकार के सद्भावों में परिणत हो सकता है।

'ब्रह्मलोक' आत्मा की वह अवस्था है, जिसमें वह परम सुख का अनुभव करता है। इस लोक में पहुँचने पर, उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं मिलता। 'ब्रह्मोलक' सब लोकों से श्रेष्ठ है। यह सब से ऊपर मस्तिष्क में है। प्राणों के यहाँ पहुँचने से जीव का मोक्ष होता है। उसे फिर ऐहिक दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। इसलिये 'ब्रह्मलोक' का आशय है—परमानन्द।

अब पाठक समझ गये होंगे कि वीर्य-रक्षा (ब्रह्मचर्य से) ही

मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है, और आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही परमानन्द (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति हो सकती है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर, फिर कुछ भी प्राप्त करने के लिये शेष नहीं रह जाता।

हमारे विचार से यही 'ब्रह्मवर्चस' और 'ब्रह्मलोक' का मूल रहस्य है। इन दोनों के लिये प्रयत्न करना मनुष्य-जाति का प्रधान ध्येय होना चाहिये। जो लोग अपने जन्म को सार्थक करना चाहें, वे ब्रह्मचर्य रूपी सदुपाय को साध कर 'ब्रह्मवर्चस' और 'ब्रह्मलोक'—'आत्मज्ञान' और 'परमानन्द' को अवश्य प्राप्त करें!

९—प्राचीन आर्य और ब्रह्मचर्य

मन्ये विधात्रा जगदेक कानम्।
विनिर्मितं वर्ष मिदं सुशोभनम्॥
धर्माख्य पुष्पाणि कियन्ति यत्र वै।
कैवल्य रूपञ्च फलं प्रचीयते॥

यह बात सब पर विदित है कि इस देश के निवासी आर्य नाम से विश्व-मण्डल में विख्यात थे। उनकी इस महत्ता का कारण क्या था? उनका सदाचारमय-धर्मनिष्ठ-लोकोपकारी जीवन। वे निरन्तर साधुता-पूर्ण तथा उच्च चरित्र का अभ्यास करते थे। इस बात से वे बहुत उन्नत तथा सद्गुण-सम्पन्न थे। उनके जीवन को सुधारने वाला प्रधान साधन यही 'ब्रह्मचर्य' था। इसी ब्रह्मचर्य के ऊपर उनका सामाजिक तथा नैतिक जीवन प्रधानतया

अधिष्ठित था, और सारे देश में सुख-शान्ति का अनुपम साम्राज्य हो गया था। पर हाय! महाभारत के साथ ही आर्यों के सत्सिद्धान्तों का ह्रास होने लग गया। दिन पर दिन आर्यों की सब प्रकार की अवनति होती गई। अन्त में यह दशा हुई कि हम उन्हीं की एक मात्र सन्तान, उनके आदर्शों के शिखर से अनाचार के कूप में गिर गये। आर्यों के उन्नत चरित्र के सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में सुसम्मतियाँ प्रकट की हैं। उनके देखने से हमें पूर्ण रूप से अनुमान हो जाता है कि कुछ ही दिन पहले, स्वदेशी शासन में हम, कितने गौरवान्वित तथा उच्च थे। हमारी ब्रह्मचर्य की प्रणाली ज्यों ज्यों अवनत होती गई, त्यों त्यों जाति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अवनति भी बढ़ती ही गई।

आर्यों के विषय में कहा गया है कि वे बड़े ऊँचे, हृष्ट-पुष्ट और पराक्रमी थे। उनका वर्ण गौर, शरीर तेजस्वी, उन्नत वक्षस्थल और दिव्य मुख-मण्डल था। बड़े नेत्र और लम्बी भुजायें थीं। युद्ध में शूरता दिखलाते थे। धर्म-पालन में दृढ़ और ईश्वर के परम भक्त थे। उनकी स्त्रियाँ सदाचारिणी, पति-भक्ता तथा देवी-स्वरूपा थीं।

ऊपर की बातों के अवलोकन से हमारे मन में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि वे ऐसे क्यों थे, और आज हम उन्हीं के वंशज होकर, इस दुर्गति को क्यों प्राप्त हैं? इसका उत्तर यह सूझता है कि इन सब अवनतियों का प्रधान कारण ब्रह्मचर्य-हीनता है। ब्रह्मचर्य की साधना से आर्यों का प्राचीन समय में उत्थान हुआ था। और उसके विपरीत चलने से ही हमारा

अधःपात हुआ। यदि उसी ब्रह्मचर्य-प्रथा को पुनर्जीवित कर दिया जाय, तो हमारे अनुमान से आर्यों की दशवीं पीढ़ी में पुनः आर्यों के वंशधर अपनी प्राचीन अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे।

अब हम इस देश के प्राचीन आर्यों के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ विदेशी विद्वानों के मतों का संग्रह करते हैं। इन विद्वानों में प्रायः सभी भारतवर्ष में आकर यहाँ की अवस्था अपनी आँखों देख गये हैं, और अपने देश में जाकर अपने ग्रन्थों में यहाँ का विस्तृत वर्णन किया है, तथा जो कुछ कहा है, उससे उनकी निष्पक्षता प्रकट होती है:—

जोर्णस—

"धर्म तथा सभ्यता के प्राचीनत्व के विचार से पृथ्वी की कोई भी जाति आर्य-जाति के समकक्ष नहीं।"

हुयनसांग—

"सच्चरित्रता वा सत्यता के लिये आर्य-जाति चिरकाल से विश्व में प्रसिद्ध है।"

मेगास्थनीज—

"आर्यों में दासत्व-भाव बिलकुल नहीं। उनकी स्त्रियों में पातिव्रत और पुरुषों में वीरत्व असीम है। साहसिकता में आर्य-जाति पृथ्वी भर की अन्य जातियों में श्रेष्ठ है—परिश्रमी, शिल्पी तथा नम्र प्रकृति है।"

मैक्समूलर—

"जिसे पृथ्वी पर स्वर्ग कहने में भी मुझे आनन्द होता है। यदि कोई मुझसे कहे कि किस देश के आकाश के नीचे मनुष्य के अन्तःकरण की पूर्णता प्राप्त हुई, तो मैं कहूँगा कि वह देश भारतवर्ष है।"

मिसेज एनीबेसेंट—

"हिन्दू-धर्म के सामने पाश्चात्य सभ्यता अत्यन्त हीन ज्ञात होती है। ज्ञान की कुञ्जी सदा से हिन्दुओं के हाथ में रही है।"

ऊपर की सम्मतियों के अतिरिक्त इस देश के विद्वानों के भी अनेक सद्भाव हैं, जो यहाँ पर अनावश्यक समझ कर नहीं दिये गये। क्योंकि स्वदेशी लोग अपने देश का पक्षपात भी थोड़ा-बहुत कर सकते हैं, पर विदेशी लोगों को इससे क्या काम! अतः इस सम्बन्ध में उन्हीं के विचार मूल्यवान हो सकते हैं।

१०—धर्म और ब्रह्मचर्य

"धर्मेणैव जगत्सुरक्षितमिदम्।"
"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण।"

(नारायणोपनिषत्)

धर्म से ही यह संसार सुरक्षित है। धर्म से ही इस सृष्टि की मर्यादा है। धर्म से ही प्रजा अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकती है।

विचार-दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि वास्तव में धर्म मनुष्य-जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक साधन है। धर्म से ही सब प्रकार की उन्नतियाँ हो सकती हैं। धर्म मनुष्य की उस योग्यता का नाम है, जिसके आश्रय से, वह अपने पद को सार्थक बनाता है। जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व—जल का तरलत्व है,

वैसे ही इस शरीका धर्म संयम-नियम और आत्मा, का ब्रह्मचर्य है। जो पदार्थ अपने धर्म को छोड़ देता है, वह उसी समय अपने अस्तित्व को भी खो बैठता है।

उन्नतिं निखिला जीवा, धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना, लभन्तेऽन्ते परं पदम्॥

(महर्षि व्यास)

इस लोक में समस्त जीव धर्म से ही विकास को प्राप्त करते हैं। धर्म के नियमों को पालने वाले, और उसके साधन में सावधान रहने वाले नर ही अन्त में उत्तम पद के अधिकारी होते हैं, अन्य नहीं !

महर्षि कणाद ने अपने ग्रन्थ में धर्म की बहुत ही विश्व-व्यापक तथा अकाट्य परिभाषा की है, जो सदा और सर्वत्र एक सी घटती है, उसे हम यहाँ देते हैं:—

"यतोऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः सधर्मः।"

(वैशेषिकदर्शन)

जिस उपाय के अवलम्बन से इस लोक तथा परलोक–दोनों का सुख प्राप्त हो, उसे धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अधर्म है।

'अभ्युदय' नाम है—ऐहिक उन्नतियों का। सुन्दर स्वास्थ्य, दीर्घ-जीवन, प्रचुर-सम्पत्ति, सुयश तथा अच्छी सन्तान को ही लोग इसलोक की उन्नतियों में गिनते हैं। ये सभी उन्नतियाँ 'ब्रह्मचर्य' के अधीन हैं। एक ब्रह्मचारी पुरुष—इन सबों को सहज में प्राप्त कर लेता है।

'निःश्रेयस' नाम है—पारलौकिक विकास का। आत्मानन्द, जीव-दया, परमोत्साह, उच्च कर्तव्य-शीलता, सद्ज्ञान और

मोक्ष, इनकी गणना पारलौकिक विकाश में है। ये सभी ब्रह्मचर्य के प्रताप से सुलभ हैं। एक ब्रह्मचारी इन्हें कुछ ही दिन के सदभ्यास से, निश्चय रूप से अधिकृत कर लेता है।

किंबहुना एक ही ब्रह्मचर्य में धर्म के दोनों उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है। अतएव हम ब्रह्मचर्य को ही धर्म का साक्षात् स्वरूप समझते हैं।

ब्रह्मचर्य शरीर और आत्मा का प्रधान धर्म है। इससे शारीरिक तथा मानसिक विकास स्वयं हो जाता है। इसलिये ब्रह्मचर्य को सर्व-प्रथम स्थान मिला है।

एक बार नारद जी भगवान् विष्णु के पास वैकुण्ठ में गये। अभिवादन तथा कुशल-प्रश्न के पश्चात् नारदजी ने भगवान् से पूछा कि महाराज ! मैं आप से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। इस पर विष्णु भगवान् ने उन्हें पूछने की आज्ञा दी।

उन्होंने पूछा कि हे सब के हृदय की बात जानने वाले प्रभो ! आप की माया में सब जीव भूले हैं। भला यह तो बताइये कि आप को सब से प्रिय वस्तु क्या है ? मैं आप के ही श्रीमुख से यह रहस्य प्रकट कराना चाहता हूँ।

नारद जी का प्रश्न सुन कर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि हे ऋषिवर ! आपने संसार के लाभ की इच्छा से यह प्रश्न किया है, अतएव मैं आप से अपने मन की बात बतलाता हूँ। मुझे ब्रह्मचर्य-धर्म सब से प्रिय है। जो पुरुष मन, वचन तथा कर्म से इसका उचित रीति से पालन करता है, वह निश्चय ही मुझ को प्राप्त होता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े योगी लोग ब्रह्मचर्य-सिद्धि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते।

जीव के लिये ब्रह्मचर्य से बढ़ कर दूसरा धर्म त्रिलोक में नहीं। इस पर नारद जी भगवान् की स्तुति कर वहाँ से प्रसन्न चित्त हो कर अन्य कहीं के लिये विदा हुये।

११—सदाचार और ब्रह्मचर्य

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तद्देवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥

(श्रीभगवद्गीता)

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा दूसरे लोग भी उनकी देखा-देखी करते हैं, और वे जा कुछ नियम निर्धारित करते हैं, लोग उन्हीं के अनुकूल चलने लगते हैं।

"आचारः प्रथमो धर्मः।"

(मनुस्मृति)

सदाचार ही परम धर्म है। भगवान मनु ने उपर्युक्त शब्दों में सदाचार को प्रधानता दी है।

वास्तव में मनुष्य-जीवन का सार सदाचार है। सदाचार से ही, दोनों ही, व्यक्तिगत तथा समाजिक सुधार हो सकते हैं। जो जाति, और जो देश अपने सदाचार से पतित नहीं होता, वह अपनी सुखमय अवस्था से हीन नहीं हो सकता है।

सदाचार का अर्थ है—सज्जनों का आचरण। वे उत्तम नियम, जिन पर कि उच्च पुरुष चलते हैं—अथवा शास्त्र-सम्मत वे कार्य, जिनके करने से मनुष्य-समाजको सुख और शान्ति मिलती है।

यह बात सभी लोग जानते हैं कि हमारे ऋषि-महर्षि सदाचारी और श्रेष्ठ पुरुष थे। उनके निर्धारित किये हुये कर्म भी सदाचार हैं। वे जैसा आचरण करते थे, वैसा ही प्रजा को भी करने का उपदेश देते थे। वे भी ब्रह्मचर्य को सदाचार मानते थे। यही कारण था कि प्राचीन कालिक जनता ब्रह्मचर्य के पालन में अत्यधिक उद्यत थी।

धर्मज्ञ-शिरोभूषण मनु ने सदाचार से प्राप्त होने वाले उत्तम फलों का इस प्रकार वर्णन किया है:—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धन मक्षय्य माचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

(मनुस्मृति)

सदाचार का पालन करने से मनुष्य को दीर्घायु, मन चाही सन्तान और अमित धन मिलता है। सदाचार से अनेक दुर्गुण भी नष्ट हो जाते हैं। वे फिर कहते हैं:—

सर्व लक्षण-हीनोऽपि, यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च, शतं वर्षाणि जीवति ॥

(मनुस्मृति)

सब शुभ लक्षणों से रहित होने पर भी, जो सदाचारी पुरुष है—शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाला और ईर्ष्या से घृणा रखने वाला है, वह सौ वर्षों तक जीता है।

अब हमारे पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि सदाचार मनुष्य-जाति का कितना हित करने वाला साधन है। अतः इस का पालन करना भी कितना आवश्यक है।

ऊपर जिन ऊँचे उद्देश्यों को सिद्धि सदाचार से होती है, सो

सब ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत हैं। अतएव वह सदाचार यही ब्रह्मचर्य है। हम सदाचार को ब्रह्मचर्य से पृथक् नहीं कर सकते।

हमारे विचार से 'ब्रह्मचर्य' ही मूल सदाचार है। क्योंकि सदाचार के जितने गुण हैं, वे सब इसके भीतर आ जाते हैं।

जैसे सदाचार से समस्त दोषों का नाश होता है, वैसे ब्रह्मचर्य से भी किया जा सकता है। अतः ब्रह्मचर्य सदाचार भी सिद्ध हो गया। ब्रह्मचारी ही सच्चा सदाचारी है।

११—तप और ब्रह्मचर्य

"तपो वै ब्रह्मचर्यम्।" (श्रुति)

वास्तव में ब्रह्मचर्य ही तप है।

"तपो मे हृदयं साक्षात्।"

(भगवान् विष्णु)

तप मेरा साक्षात् हृदय है।

पुराणों तथा और अच्छे ग्रन्थों में लिखा है कि भारत के ऋषि-महर्षि तप करते थे—उन लोगों का जीवन प्रायः तप के अनुष्ठान में ही बीतता था। यही कारण था कि वे अपने तपोबल से पृथिवी पर मनुष्य-जाति का महान् हित कर, आदरणीय बनते थे।

ऊपर की बात जान कर मनमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह तप क्या था? हमारे विचार से वह 'ब्रह्मचर्य' ही था! उसी की रक्षा के लिये विविध प्रकार के उपाय किये जाते थे। उसी की एक मात्र साधना से बड़ी २ सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। उसको एक बार खण्डित होने से भी तपस्वियों के अनेक वर्ष का

परिश्रम और अनुष्ठान नष्ट हो जाता था। वे जो कुछ करना चाहते थे, वह मनोरथ नहीं सधता था। वे लोग उसी ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिये नगरों को त्याग कर वनों में तथा पर्वतों पर जा कर रहते थे। फलाहार कर अपने शरीर को क्षीण कर देते थे। बहुत से लोग वृक्षों के पत्तों, वनस्पतियों तथा वायु पर ही अपना निर्वाह करते थे। देह के दुर्बल हो जाने से उन्हें काम-विकार नहीं सताता था। काम-विकार के न उत्पन्न होने से उनका वीर्य रक्षित रहता था। वीर्य के सुरक्षित रहने से आत्म-तेज बढ़ता था, जिससे चित्त में शान्ति आती थी। चित्त के स्थिर हो जाने के कारण, वे योग कर सकते थे। अर्थात् मन को आत्मा या परमात्मा में लीन करते थे। इस प्रकार उन्हें उस ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति हो जाती थी, जिससे वे मुक्ति-पद (परम शान्ति) को पा जाते थे।

अब पाठक समझ गये होंगें कि ब्रह्मचर्य ही वह परम तप था। उसी का पालन करने के लिये जन्म भर यत्न किये जाते थे। अनेक विघ्न पड़ने पर भी यह महाव्रत नहीं छोड़ा जाता था। जो तपस्वी अपनी इस साधना में सफल हो जाते थे, वे ही सफल मनोरथ होते थे। इसी से भगवान शिव ने इस प्रकार अपने हृदय का भाव प्रकट किया है:—

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यंतपोत्तमम्।"

(तन्त्रशास्त्र)

अर्थात् तप कुछ नहीं है! ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है।

इस अवतरण से भी हमें यही भासता है कि शिवजी ने भी ब्रह्मचर्य को ही उत्तम तप माना है। अतः हमारे कहने का तात्पर्य

यह है कि ब्रह्मचर्य ही परम तप है, और इसको पालन करने वाला पुरुष ही सच्चा तपस्वी है।

भगवान श्री कृष्ण ने अपनी गीता में शारीरिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया है। उसे हम यहाँ देते हैं:—

देवद्विजगुरुप्राज्ञ-पूजनं, शौच मार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं तप उच्यते॥

(श्रीभगवद्गीता)

देव, द्विज, गुरु और विद्वान की पूजा (सत्कार) पवित्रता और सरलता, तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शारीरिक तप कहते हैं।

अनुद्वेग-करं वाक्यं, सत्यं प्रिय हितञ्चयत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥

(श्रीभगवद्गीता)

किसी का हृदय न दुखाने वाला, सत्य-प्रिय तथा परोपकारी वचन, और वेदों के अभ्यास को वाचिक तप कहते हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्म-विनिग्रहः।
भाव-संशुद्धि रित्येतत्तपो मानस उच्यते॥

(श्रीभगवद्गीता)

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता, सौम्यता, मननशीलता, विषयों से विरक्तता तथा भावों की शुद्धता को मानसिक तप कहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण के मत से भी ब्रह्मचर्य की गणना शारीरिक तप में हुई है। पर हमारे विचार से ऊपर जिन तपों का वर्णन किया गया है, वे सभी साधनायें, एक ब्रह्मचर्य के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। ब्रह्मचर्य के बिना पालन किये, वे कदापि निबह नहीं सकतीं। अतएव ब्रह्मचर्य को महातप जानना चाहिये।

हमने ब्रह्मचर्य को ही तप सिद्ध किया है। प्राचीन काल में प्रधानतया यही तप साधा जाता था। हमारे मत की पुष्टि नीचे लिखे वैदिक मन्त्र से भी होती है:—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।"

(अथर्व वेद)

ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवों को अमरता प्राप्त हुई।

अब पाठक समझ गये होंगे कि तप और ब्रह्मचर्य में कुछ भी अन्तर नहीं। आजकल जो तप के नाम से प्रसिद्ध है, वह वास्तव में यही ब्रह्मचर्य था, जिसके लिये अनेक वर्ष तक लोग यत्न-पूर्वक तपस्या करते थे, और उसके निर्विघ्न अभ्यस्त हो जाने पर, ब्रह्म की प्राप्ति होती थी। एवं ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाता था।

१२—योग और ब्रह्मचर्य

योगात्संप्राप्यते ज्ञानं, योगो धर्मस्यलक्षणम्।
योगो परन्तपोज्ञेयस्तस्माद् योगं समभ्यसेत्॥

(महामुनि अत्रि)

योग से ज्ञान की प्राप्ति होती है—योग ही धर्म का रूप है, और योग ही परम तप माना जाता है। अतएव ऐसे योग का अभ्यास करना चाहिये।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने शास्त्र में इस प्रकार योग का लक्षण किया है:—

"योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः।"

(योगदर्शन)

चित्त की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है। जब तक

चित्त-वृत्तियाँ अपने अधिकार में नहीं हो जातीं, तब तक लाख उपाय करने पर भी रोके नहीं रुक सकतीं। चित्त-वृत्तियों को अधिकार में करने के लिये, मन की साधना की जाती है। यह मन की साधना बिना ब्रह्मचर्य के हो नहीं सकती। यही कारण है कि योग करने के पहले, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना पड़ता है। जिसका ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं, वह पुरुष योग-भ्रष्ट होकर अपने अनुष्ठान से गिर जाता है। एक ब्रह्मचारी पुरुष में ही चित्त-वृत्ति को रोकने की शक्ति रह सकती है।

योग का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा को प्राप्त करना है। उपनिषदों में आत्मा और परमात्मा में लीन होने के उपायों का वर्णन है। प्रमाण के लिये एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है.—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥

सत्य से, तप से, पूर्ण ज्ञान से और अविचल ब्रह्मचर्य से आत्मा (ईश्वर) का लाभ हो सकता है। वह अन्तःकरण में ज्योतिर्मय और निर्मल रूप से विराजमान है। जो लोग सिद्ध और निष्पाप हैं, वे ही उसके दर्शन कर सकते हैं।

हमारे विचार से सत्य, तप और आत्मज्ञान सब योग से ही सिद्ध होते हैं। वह योग भी ब्रह्मचर्य पर स्थित है। इसलिये ब्रह्मचर्य ही सच्चा योग है। इसका निभाने वाला पुरुष ही कर्मनिष्ठ योगी है। जिस चित्त-वृत्ति निरोध से योग सिद्ध होता है, उसी से ब्रह्मचर्य का भी पालन किया जाता है।

योग-शास्त्र में योग के साधने की तीन क्रियायें या साधन इस प्रकार बतलाये गये हैं:—

"तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रिया-योगः।"

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को क्रिया-योग कहते हैं। हमारे ब्रह्मचर्य में भी, ये तीनों क्रियायें प्रधानरूप से विद्यमान हैं। जिन आठ अंगों से योग सिद्ध होता है, उन्हीं के पालन से ब्रह्मचर्य की भी पूर्णता प्राप्त होती है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि ब्रह्मचर्य एक प्रकार से योग भी है। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया, उसने योग-साधन भी कर लिया।

१३—सत्य और ब्रह्मचर्य

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वातिवायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्य से पृथिवी ठहरी हुई है, सत्य से सूर्य अपना प्रकाश करता है और सत्य से ही वायु चलती है। एक सत्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

वास्तव में संसार का बीजरूप एक सत्य ही है। सभी पदार्थों में सत्य विराजमान है। जहाँ वह नहीं है, वहाँ कुछ भी नहीं रह सकता। जिस पदार्थ का सत्य नष्ट हो जाता है, वह स्वयं भी नाश को प्राप्त होता है। सत्य का ही दूसरा नाम अस्तित्व है।

इस शरीर का सत्य बल है—इसके भीतर रहने वाले आत्मा का सत्य ब्रह्मचर्य है। बल के न रहने पर शरीर और ब्रह्मचर्य

से हीन होने पर आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जैसा कि उपनिषदों में लिखा है:—

सत्य मेव जयते नानृतम्।
सत्येन पन्थावितती देवयानः॥
येनाक्रमन्तृषयो ह्याप्तकामा।
यत्र तत्सत्यस्य परमंनिधानम्॥

सत्य की ही जय होती है, असत्य की नहीं! सत्य से ही देवों का मार्ग मिलता है। ऋषि लोग भी सत्य के प्रभाव से सफल होते हैं, जहाँ सत्य की सत्ता है, वहाँ सब सुख है।

हमारे विचार से जिस सत्य का वर्णन ऊपर आया है, वह यही ब्रह्मचर्य है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य का नाश करता है, वह अपने को सत्य से पृथक् करता है। इसके पालन से मनुष्य सत्य को अधिकार में कर लेता है, और वह सत्य उस को सुखी बनाता है।

हमारे भीष्म पितामह ने ब्रह्मचर्य को सत्य शब्द से अभिहित किया है! *अपनी प्रतिज्ञा की दृढ़ता प्रकट करने के लिये,* उन्होंने सत्य का ही नाम लेकर, ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है।

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्सृष्टुं, व्यवसेयं कथञ्चन॥

(महाभारत)

चाहे इन्द्र अपने पराक्रम को छोड़ दें, और धर्मराज अपने धर्म को छोड़ दें, पर जिस सत्य (ब्रह्मचर्य) को मैंने धारण किया है, उसे कदापि नहीं छोड़ सकता।

अब पाठक सत्य और ब्रह्मचर्य की एकता और रहस्य को समझ गये होंगे।

जिस पुरुष के हृदय में सत्य की कुछ भी प्रतिष्ठा है—जो सत्य का पालन करना चाहता है, वह इस ब्रह्मचर्य रूपी सत्य का पालन कर सद्गति को प्राप्त हो।

१४—कर्तव्य और ब्रह्मचर्य

"जयं प्राप्नोति संग्रामे, यः सुकार्याण्यनुष्ठते।"

(विदुरनीति)

सत्कर्तव्यों का पालन करने वाला ही पुरुष संग्राम में विजय-लाभ करता है।

कर्त्तव्य मेव कर्त्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि।
अकर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

(नीति-शास्त्र)

अपने कर्त्तव्य का पालन प्राणों के निकलने तक करना चाहिये! पर जिसे हम अकर्त्तव्य समझते हैं, उसे प्राणों के जाने पर भी करना योग्य नहीं।

कर्त्तव्य से ही समाज की स्थिति है—कर्त्तव्य से ही दोषों का नाश होता है—कर्त्तव्य के पालन से ही मनुष्य को सुख-शान्ति मिल सकती है, और कर्त्तव्य ही सब का सार है। कर्त्तव्य से हीन होने पर कदापि सुख नहीं मिलता। अकर्त्तव्य के समान पाप भी नहीं।

हम ब्रह्मचर्य को ही सब कर्त्तव्यों का कर्त्तव्य मानते हैं।

संसार के सारे कर्त्तव्य एक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता रखते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना एक भी कर्त्तव्य नहीं हो सकता !

"कर्त्तव्यं सर्व-साधकम् ।"

(सूक्ति)

कर्त्तव्य ही मनुष्य के सब कार्यों को साधने वाला है। हमारा ब्रह्मचर्य भी सब का साधने वाला सिद्ध हो चुका है। अतएव वह पूर्ण रूप से कर्त्तव्य कहा जा सकता है। इस कर्त्तव्य के सामने विश्व के सभी कर्त्तव्य मूक हो जाते हैं। इस ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला पुरुष ही सच्चा कर्त्तव्यशील है, और वह सब सुखों को सहज में प्राप्त कर लेता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य-द्वारा कर्त्तव्य की बहुत ही उत्तम परिभाषा की गई है, और उसी वचन में कर्त्तव्य-पालन की आज्ञा भी ब्रह्मचारी को दी है। उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"यान्यनवद्यानिकर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।"

(उपनिषत्)

जो निर्दोष कर्म हैं, वे ही कर्तव्य हैं। अकर्त्तव्य का सेवन करना योग्य नहीं वरन् मूर्खता है।

इस से यह विदित होता है कि जितने दोष-रहित कर्म हैं, सब की गणना कर्त्तव्य में है। उनका पालन करना शास्त्र-सङ्गत है। वे सभी कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य के बिना नहीं सध सकते। अतः इस प्रकार से भी ब्रह्मचर्य सब कर्त्तव्यों का मूल है।

अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि 'ब्रह्मचर्य' ही श्रेष्ठ कर्तव्य है, अतएव जिसे कर्तव्य का पालन करना हो, वह ब्रह्मचर्य का पालन करे।

१५—यम-नियम और ब्रह्मचर्य

"अहिंसा सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"

(योगदर्शन)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न देने का नाम 'अहिंसा' है। जैसा कुछ देखा-सुना और जो मन में हो, उसे उसी रूप में कहने को 'सत्य' कहते हैं। पराये धन का लोभ न करना 'अस्तेय' है। उपस्थेन्द्रिय का संयम तथा वीर्य-रक्षा का नाम 'ब्रह्मचर्य' और शरीर-यात्रा के निर्वाह से अधिक भोग-सामग्री का एकत्र न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है।

अब हम महर्षि पतञ्जलि के कहे हुये यमों के लाभों का वर्णन करते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः।"

(योगदर्शन)

'अहिंसा' के पालन से वैर-भाव का त्याग होता है। अर्थात् सब जीवों पर दया करने से वे भी प्रेम करते हैं।

"सत्य-प्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम्।"

(योगदर्शन)

'सत्य' के पालन से सभी कार्य सिद्ध होते हैं। वचन के प्रभाव से दूसरों तथा अपने को सुख मिलता है।

"अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्व-रत्नोपस्थानम्।"

(योगदर्शन)

'अस्तेय' के पालन से सब कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता है। अभि-प्राय यह है कि वह सब का विश्वासपात्र बनता है।

"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः।"

(योगदर्शन)

'ब्रह्मचर्य' का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है। अर्थात् उसे शारीरिक और मानसिक बल की प्राप्ति होती है।

"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।"

(योगदर्शन)

'अपरिग्रह' के पालन से जन्म-सुधार के विचार उत्पन्न होते हैं। हृदय में निस्वार्थता का भाव उदित होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इन पाँचो यमों को अकाट्य तथा सार्व-भौम महाव्रत माना है। अर्थात् इनका पालन सब जाति, सब देश, सब समय और सब अवस्था में किया जा सकता है।

अब हम उनके योगदर्शन में लिखे हुये नियमों का आवश्यक वर्णन करते हैं:—

"शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः।"

(योगदर्शन)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम कहलाते हैं।

शारीरिक और मानसिक पवित्रता का नाम 'शौच' है। भोग के साधनों की अनिच्छा का नाम 'सन्तोष' है। सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द सहने, तथा परिमित आहार-विहार करने का नाम 'तप' । ओङ्कारादि जप और वेद-शास्त्रों के अध्ययन का नाम 'स्वा-

ध्याय' है, और फल-रहित हो, परमात्मा की उपासना का नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है।

अब नियम के पालन से जो फल प्राप्त होते हैं, उन्हें भी एक एक कर कहते हैं:—

"शौचस्त्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः।"
"सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्मदर्शनयोग्यत्वानिच्च।"

(योगदर्शन)

बाह्य 'शौच' से शरीर का मोह और पराये के साथ सम्बन्ध की इच्छा नहीं रहती। 'आभ्यन्तर' शौच से मन की शुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रिय-जय और आत्म-दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

"सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः।"

(योगदर्शन)

'सन्तोष' की साधना से परम सुख मिलता है। तृष्णा का नाश होने से मन की अशान्ति दूर हो जाती है।

"कायेन्द्रिय शुद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः।"

(योगदर्शन)

'तप' की साधना से सुन्दर स्वाध्याय और इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है

"स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।"

(योगदर्शन)

'स्वाध्याय' करने से इष्ट-साधन और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि होती है।

"समाधि-सिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात्।"

(योगदर्शन)

'ईश्वर-प्रणिधान' से समाधि (अत्यन्त शान्ति) मिलती है।

आत्मा या परमात्मा में लीन होने पर कोई सुख फिर शेष नहीं रहता। यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है।

यद्यपि यम और नियम योग के अङ्ग हैं, तथापि ये 'ब्रह्मचर्य' के भी प्रधान अवयव हैं। ब्रह्मचर्य की दशा में प्रत्येक ब्रह्मचारी को पाँच यमों और पाँच नियमों का पालन नितान्त आवश्यक है। विना इनके ब्रह्मचर्य की कदापि सिद्धि नहीं हो सकती है।

धर्माचार्य मनु ने भी यम और नियमों के सम्बन्ध में अपनी ऐसी ही सम्मति प्रकट की है:—

यमान्सेवत सततं, न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो, नियमान्केवलान्भजन्॥

(मनुस्मृति)

बुद्धिमान् सदैव यमों का सेवन करे, नियमों का पालन नित्य न भी करे, क्योंकि यमों का न पालन करने वाला मनुष्य केवल नियमों का पालन करता हुआ भी पतित हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन न करने वाला पुरुष—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान करते रहने पर भी कार्य में असफल होता है। अतएव यम और नियम दोनों की समान रूप से प्रतिष्ठा करनी चाहिये। कारण यह है कि ब्रह्मचर्य के ये दोनों आवश्यक अङ्ग हैं, या यों समझिये कि ब्रह्मचर्य रूपी आत्मा इन्हीं यम-नियमों से बने हुये शरीर में वास करता है।

अब तो हमारे पाठक यम-नियम तथा ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध भली भाँति समझ गये होंगे।

१७—यज्ञ और ब्रह्मचर्य

"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः।"

(मनुस्मृति)

यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है, और मेघ से अन्न पैदा होता है। और अन्न से सब जीते हैं।

यज्ञ की महिमा वेदों में विविध पकार से गाई गई है। जिसके द्वारा (परमात्मा) जाना जाय, ज्ञानी उसे 'यज्ञ' कहते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों में ब्रह्मचर्य का यज्ञ-रूप से वर्णन किया गया है।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव। तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता, तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेवतद्ब्रह्मचर्येण ह्येवे ऽऽत्मानमनुविन्दते।

(छान्दोग्योपनिषत्)

जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। उस ब्रह्मचर्य का जानने वाला ब्रह्म को पाप्त होता है। जिसको 'इष्ट' कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य द्वारा यजन करके ही पुरुष ब्रह्म को पाता है।

"लोग जिसे 'सात्रायण' यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही अविनाशी जीव की रक्षा होती है। जिसे 'मौन' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही परमात्मा का मनन किया जा सकता है। जिसे 'अनशनायन' कहा गया है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया हुआ आत्मभाव नष्ट नहीं होता। जिसे 'अरण्यायन' कहते हैं, वह

भी ब्रह्मचर्य ही है । क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा (कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड का फल) ब्रह्मपुरी मिलती है । जो पुरुप इस ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ का अनुष्टान करते हैं, वे अग्नि-स्वरूप होकर अपने तथा औरों के पापों को भी तृण की भाँति भस्म कर देते हैं ।"

एक स्थान पर ह्मचर्य को यज्ञ मान कर ब्रह्मचारी को यज्ञ-कर्त्ता माना गया है । यज्ञ के प्रधान-प्रधान अङ्ग, ब्रह्मचारी के कार्यों पर, रूपकालङ्कार में, घटाये गये हैं । इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य की अवस्था ही यज्ञ है । ब्रह्मचारी को यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं, उसे तो यों ही यज्ञ का फल प्राप्त होता है ।

महर्पि आङ्गिरा के पुत्र घोरनामा ऋपि ने देवकी के पुत्र श्री कृष्ण से अध्ययन के समय कहा कि ब्रह्मचारी के लिये विशेप कर्म नहीं हैं । उसे मरणकाल में चाहिये कि इस प्रकार कह कर मुक्त हो जाय:—

हे परमात्मन्! आप '**अविनाशी**' हैं। हे देव! आप '**एकरस**' रहने वाले हैं, और आप ही '**जीवनदाता तथा अतिसूक्ष्म**' हैं । बस, इतने से ही उसकी सद्गति हो जायगी । इसका अभिप्राय यह है । कि यही उसके लिये अन्तिम यज्ञ है । इसलिये इस उपदेश को सुन कर श्री कृष्ण भी अन्य विचारों को छोड़ कर परमात्मप-रायण हो गये । अब यह बात भी सिद्ध हो गई कि ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ यज्ञ भी है । और ब्रह्मचारी ही यज्ञ कर्त्ता है ।

१८—दो आदर्श ब्रह्मचारी

'ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः।
पृथिव्यां तेनजावन्ति प्रदिशश्चतस्रः।'

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपने सद्ज्ञान, पराक्रम, सिद्धान्त, सदाचार तथा उत्तम गुणों को, बड़े-छोटे का विचार न कर, सब में फैलाता है। इससे चारों ओर की जनता में नव-जीवन का सञ्चार होता है।

हमारे पाठक इस बात को भली भाँति समझ चुके हैं कि ब्रह्मचर्य जैसे उच्च तथा सर्वोपकारी विज्ञान का पहले पहल इसी देश में आविष्कार हुआ था। यही कारण है कि अन्य देशों की अपेक्षा यहीं इसका सुधार और प्रचार विशेष रूप से हुआ।

हमारे मत से भूमण्डल के इतिहास में जितने अधिक उदाहरण ब्रह्मचर्य के यहाँ मिल सकते हैं, उतने और कहीं मिलने सम्भव नहीं।

इस देश में अनेक पुरुषों ने ब्रह्मचर्य-पालन की चेष्टा की है। उनमें से कुछ लोग अपने व्रत से विचलित भी हो गये। बहुतों को सफलता भी मिली, पर हम उन दो आदर्श ब्रह्मचारियों का परिचय करा देना चाहते हैं, जो वास्तव में अद्वितीय हुये हैं। वे अपने उसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से आज भी जनता के श्रद्धा-भाजन हो रहे हैं। समस्त भारत के आर्य-साहित्य में उन दोनों महानुभावों का व्यक्तिगत जीवन हमें अमूल्य शिक्षा प्रदान करता है।

इनमें से पहले ब्रह्मचारी का नाम जगद्विख्यात महावीर हनूमान है। इनकी कथा रामायण में मिलती है। ये अपने जीवन

पर्यन्त अक्षुण्ण ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का यहाँ तक पालन किया कि स्वप्न में भी कभी इनका वीर्य स्खलित न होने पाया। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से इनका शरीर वज्र के समान हृष्ट-पुष्ट हो गया था। ये महावीर्य के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य कर सकते थे। इनके ब्रह्मचर्य का उद्देश्य केवल सेवा-कार्य था। इन्होंने बली से बली राक्षसों का मद चूर्ण कर डाला। अनुकरणीय स्वामि-भक्ति, असम पराक्रम, तेजस्वी स्वभाव और पवित्र अन्तःकरण के लिये भी ये परम प्रसिद्ध थे। इन गुणों से युक्त होने पर भी, वे बहुत बड़े विद्वान और मेधावी थे। वक्तृत्वकला से दूसरों का हृदय अपनी ओर भली भाँति खींचना जानते थे।

एक स्थान पर किष्किन्धा-काण्ड में श्रीरामचन्द्र भगवान् ने स्वयं अपने मुख से हनूमान की विद्वत्ता और वाक्-चातुरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वह यों है:—

महाबली बालि ने अपने भाई सुग्रीव को मार-पीट कर घर से निकाल दिया था। वे ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर इन्हीं हनूमान के साथ रहने लगे थे। एक दिन श्रीरामजी जानकीजी को खोजते हुये लक्ष्मण के साथ उधर आ निकले। सुग्रीव के मन में सन्देह और भय हुआ। उसने इन्हे रहस्य लेने के लिये भेजा। हनूमान भी विप्ररूप धर कर श्रीराम और लक्ष्मण से मिले। उनके भाषण से प्रसन्न होकर श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा:—

तमभ्यभाष सौमित्रे ! सुग्रीव-सचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः, स्नेहयुक्त मरिन्दमम्॥
नानृग्वेद विनीतस्य, नायजुर्वेद धारिणः।
नासामवेद-विदुषः, शक्यमेवं विभाषितुम्॥

नूनं व्याकरणं कृत्स्न मनेन बहुधा श्रुतम् ।
बहु व्याहरतानेन, न किञ्चिदपशब्दितम् ॥
न मुखेनेत्रयोश्चापि, ललाटे च भ्रुवोस्तथा ।
अन्येष्वपि च सर्वेषु, दोषः संविदितः क्वचित् ॥
अविस्तर मसन्दिग्ध मविलम्बित मव्ययम् ।
उरस्थं कण्ठगे वाक्यं, वर्त्तते मध्यमस्वरम् ॥
संस्कार-क्रम-सम्पन्ना मद्भुता मविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं, वाचं हृदय-हर्षिणीम् ॥

(वाल्मीकि-रामायण)

हे लक्ष्मण ! मधुर वाक्य से स्नेहयुक्त सुग्रीव के वाणी-विशारद सचिव हनूमान से भाषण कर, यह ज्ञात हुआ कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के न जानने वाले इस प्रकार का भाषण नहीं कर सकते । अर्थात् ये वेद-शास्त्रज्ञ जान पड़ते हैं। निश्चय,ही इन्होंने व्याकरण का अच्छा अध्ययन किया है । कारण यह है कि इन्होंने इतना अधिक बोलने पर भी एक अशुद्धि नहीं की । मुख में, नेत्रों में और भ्रूभाग में तथा अन्य किसी भी अवयव में इनके कहीं भी दोष नहीं दिखलाई पड़ा ।

सूक्ष्म रीति से, स्पष्ट-स्पष्ट, अस्खलित श्रुति-मधुर, न तो बहुत धीरे-धीरे और न बहुत जोर-जोर से, अर्थात् मध्यम स्वर में इन्होंने भाषण किया है। सुसंस्कृत नियमयुक्त, अद्भुत प्रकार से, प्रिय तथा हृदय को हर्षित करने वाली वाणी इनके मुख से उच्चरित हुई है ।

अब हम इनकी दृढ़ प्रतिज्ञता तथा पराक्रम-शीलता का परिचय इन्हीं के कहे हुये वाक्यों से कराते हैं:—

श्रीजानकी को खोजते हुये वानर लोग समुद्र-तीर पर पहुँचे। सबों ने समुद्र लाँघने के लिये अपने-अपने बल का वर्णन किया। जाम्बवन्त ने देखा कि बिना हनूमान के काम न चलेगा। अतः उन्होंने उन्हें उत्कर्ष-वचनों द्वारा उत्साहित किया। इस पर हनूमान ने उत्तेजित होकर वानरी-सेना को इस प्रकार सन्तुष्ट किया:—

यथा राघव-निर्मुक्तः, शरः श्वसन-विक्रमः।
गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि, लङ्कां रावणपालिताम्॥
नहि द्रक्ष्यामि यदितां, लङ्कायां जनकात्मजाम्।
अनेनैव हि वेगेन, गमिष्यामि सुरालयम्॥
यदिवात्रिदिवे सीतां, न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः।
बद्ध्वा राक्षस-राजान मानयिष्यामि रावणम्॥
सर्वथा कृत कार्योऽह मेष्यामि सह सीतया।
आनयिष्यामि वालङ्कां, समुत्पाट्य सरावणम्॥

(वाल्मीकि रामायण)

जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र का चलाया हुआ बाण सन-सन करता हुआ जाता है, उसी भाँति मैं रावण के द्वारा रक्षा की गई लङ्कापुरी में जाऊँगा। यदि मैं उस लङ्का में जानकी को न देखूँगा, तो उसी वेग से स्वर्ग में चला जाऊँगा। यदि मैं इतना परिश्रम करने पर भी त्रिलोक में सीता को न पा सकूँगा, तो मैं राक्षसों के राजा रावण को बाँध कर यहाँ ले आऊँगा, या तो मैं कृतकार्य होकर सीता के साथ आऊँगा, या लङ्का को भली भाँति नष्ट-भ्रष्ट करके रावण को साथ पकड़ ले आऊँगा।

पाठकों ने एक आदर्श ब्रह्मचारी का परिचय पा लिया। इनकी वाणी में कैसा तेज है? अब हम दूसरे का परिचय कराते हैं।

दूसरे ब्रह्मचारी का नाम भीष्म पितामह है। महाभारत के चरित-नायकों में ये प्रधान माने जाते हैं। इनका परम स्वार्थ-त्याग उच्च-धर्म-नीतिज्ञता, अद्‌भुत पराक्रम, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुणता, युद्ध-कौशल, विपुल पाण्डित्य तथा उदार चरित्र प्रायः सब पर विख्यात है।

ये भी बाल-ब्रह्मचारी थे। पहले इनका नाम 'देवव्रत' था, पर जब से इन्होंने अपने पिता के विवाह के लिये ब्रह्मचर्य की कठिन प्रतिज्ञा की, तब से लोग इन्हें 'भीष्म' कहने लगे।

इस महापुरुष के उन्नत व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक बहुत ही प्रचलित उत्तम श्लोक है, उसे हम यहाँ देते हैं:—

भीष्मः सर्व गुणोपेतः; ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः।
लोक-विश्रुत कीर्तिश्च, सद्धर्मभून्महामतिः॥

(सूक्ति)

भीष्म सर्व गुण-सम्पन्न, ब्रह्मचारी, दृढ़व्रती, धर्म के पालन करनेवाले, बुद्धिमान और संसार में बड़े यशस्वी पुरुष थे।

भीष्म की विमाता ने वंश-विच्छेद होता हुआ देख कर, इनको विवाह कर लेने की आज्ञा दी। महर्षि व्यास ने भी ब्रह्मचर्य छोड़ कर, विवाह करने के लिये, बहुत प्रकार से समझाया। बहुत से लोगों ने इन्हें अपनी प्रतिज्ञा छोड़ने के लिये आग्रह किया, पर इस मनस्वी ने अपना प्रण नहीं छोड़ा। जब सब लोग समझा कर हार गये, तब इन्होंने अन्त में अपने विचार की अटलता जिन ओजस्वी भावों में प्रकट किया, उन्हें यहाँ उद्‌धृत करते हैं:—

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्चरस मात्मनः—
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं, वायुःस्पर्शगुणंत्यजेत्॥

विक्रमं वृत्रहाजह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं, व्यवसेयं कथञ्चन॥
(महाभारत)

चाहे भूमि आपना गुण गन्ध छोड़ दे। जल अपना तरलत्व त्याग दे—सूर्य अपना तेज छोड़ दे—वायु अपना स्पर्श त्याग दे, इन्द्र पराक्रम रहित हो जाय, और धर्मराज धर्म से विमुख होकर रहें, पर मैं जिस ब्रह्मचय रूपी सत्य को, धारण कर चुका हूँ, उसे कदापि नहीं छोड़ सकता। इससे बढ़कर और क्या एक सत्य-शील ब्रह्मचारी कह सकता है!

ऊपर के दो आदर्श ब्रह्मचारियों के चरित्र से परम सुख देने वाले 'ब्रह्मचर्य' की महिमा भली भाँति प्रकट होती है। उनके समान यदि एक भी ब्रह्मचारी इस देश में हो जाय, तो उद्धार होने में रञ्च-मात्र सन्देह नहीं।

अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करने से ही हनूमान की घर-घर मूर्तियाँ स्थापित कर, पूजन होता है।

इसी व्रत में सफल होने के कारण श्रीसीताजी के स्नेह-पात्र हुये और उन्हें यह आशीर्वाद मिला:—

अजर-अमर गुणनिधि सुत होहू।
करहिं सदा रघुनायक छोहू॥
(रामचरित मानस)

इसी सर्वोत्तम गुण के कारण श्रीरामचन्द्र जी श्रीभरत के समान प्रिय मानते रहे। और इसी के एक मात्र कारण से वे 'महावीर' पदवी से विभूषित हुये।

अचल ब्रह्मचर्य के कारण ही भीष्म का नाम तर्पण में लिया जाता है।

इसी के कारण वे इच्छा मरणी हुये और महाभारत के रणक्षेत्र में कोई भी उनका सामना न कर सका।

अतएव महत्व की इच्छा रखने वाले पुरुषों को चाहिये कि इन दोनों सत्पुरुषों का अनुकरण कर, अपने को वैसा ही बनावें।

१६—ब्रह्मचर्य के दो बड़े आचार्य

"आचार्यो ब्रह्मचर्येण, ब्रह्मचारिण मिच्छते।"

(अथर्ववेद)

आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल से ब्रह्मचारियों का हित करता है। अर्थात् योग्य बनाता है।

'आचार्यः परमः पिता।'

(सूक्ति)

धार्मिक दृष्टि से आचार्य भी विद्यार्थी का परम पिता होता है।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य के अनेक आचार्य हो गये हैं। देव लोग तो ब्रह्मचर्य-व्रत के लिये प्रधान ही माने जाते थे, पर असुर लोग भी विद्वानों की कृपा से, इस महाव्रत का माहात्म्य जानते थे। आचार्यों का यही काम था कि वे स्वयं ब्रह्मचर्य के लिये दृढ़ सङ्कल्प रहते थे और अपने शिष्यों को भी इसका पाठ पढ़ा देते थे। इनमें महादेव भगवान् शङ्कर और दानव-गुरु शुक्र बहुत बड़े थे। अतएव हम इन दोनों के विषय में पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं।

भगवान् शङ्कर परम योगी थे। ये 'ब्रह्मचर्य' के अधिष्ठाता

और शिक्षक थे । सुर और असुर इनकी प्रसन्नता के लिये, और वर-दान प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते, और वांछित वर पाते थे ।

एक बार की बात है कि ये अपने ब्रह्मचर्य-व्रत की दृढ़ता के लिये तपस्या कर रहे थे । इन्द्र ने कामदेव को इनके पास तपो-भङ्ग करने के लिये भेजा । वे भी कैलास में पहुँच कर, एक वृक्ष की ओट से अपना बाण, शङ्कर पर चलाने लगे । उनके मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ । वे अपने योग-बल से इसका कारण समझ गये । उन्हे कामदेव के कपट-व्यवहार पर अत्यन्त क्रोध हुआ, और उन्होंने अपना प्रलयङ्कारी तृतीय नेत्र खोल दिया । इस घटना का उल्लेख महाकवि कालिदास ने बड़े ही उत्कर्ष-वर्द्धक प्रकार से 'कुमार-सम्भव' में किया है । उसे हम यहाँ देते हैं:—

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति ।
यावद् गिरा खे मरुतां चरन्ति ॥
तावत्स वह्नि र्भव-नेत्र-जन्मा ।
भस्मावशेषं मदन ञ्चकार ॥

हे प्रभो ! अपने क्रोध को शान्त कीजिये ! शान्त कीजिये ! जब तक, ये शब्द आकाश-पथ में गूँजे, तब तक तो शिव के उग्र नेत्र से उत्पन्न—उस अग्नि ने, कामदेव को जला कर भस्म कर डाला, और हाहाकार मच गया । यह तो हुई एक काव्यमयी पौराणिक कथा । अब इसका आध्यात्मिक रहस्य भी सुनिये ! यह जानने ही योग्य है :—

मनुष्य का शरीर ही कैलास है । उसमें योगयुक्त रहने वाला वीर्यमय जीव ही 'शङ्कर' है । मनो-विकार ही 'कामदेव' है

और विवेक ही दोष-नाशक 'तीसरा नेत्र' । ब्रह्मचर्य की अवस्था में मनो-विकार उसका अनुष्ठान भङ्ग करना चाहता है, परन्तु जब वह अपनी विवेक-दृष्टि से देखता है, तो यह उसकी काम-वासना तत्क्षण नष्ट हो जाती है ।

प्राचीन समय में शुक्राचार्य नाम के एक असुरों के गुरु थे । वे वीर्य-रक्षा के लिये अनेक उपाय बताते थे । एक वार उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर दानव लोग बड़े बलिष्ट हो गये थे । अब तो उनसे देव लोग भी भय-भीत होने लगे । कहा जाता है कि इन आचार्य के पास 'सञ्जीवनी' नाम की एक विद्या थी, जिससे ये मृतक को भी जीवित कर सकते थे । इसीलिये देवों ने अपने 'कच' नामक एक व्यक्ति को उनके पास यह अमोघ ज्ञान प्राप्त करने के लिये भेजा । शुक्राचार्य के प्रताप से इनको भी वह विद्या आ गई । यह सञ्जीवनी-विद्या क्या था, जिसे कि केवल कच ने बड़े परिश्रम-द्वारा प्राप्त किया ? वीर्य-रक्षा की प्रकाण्ड प्रणाली, जिन पर चलने से लोग मृतक होने से बच जाते थे । शुक्राचार्य ने एक बार कच को मरने से बचा भी लिया था । वह आख्यान आगे दिया जायगा ।

अब पाठक काम-नाशक 'तृतीय नेत्र' और 'सञ्जीवनी-विद्या' का अद्भुत भेद समझ गये होंगे ।

अभ्यास और वैराग्य नाम के दो नेत्र हैं । 'तृतीय नेत्र' जो कि मस्तिष्क में है, वह आत्मज्ञान है । उसके खुलने से काम का निश्चय हा नाश हो जाता है । शिव के पास यही नेत्र था । इसी लिये उन्होंने कामदेव को जला कर क्षार कर दिया । यदि तुम

भी अपने मनोविकारों को जला कर, अपने को शङ्कर बनाना चाहते हो, तो इसी नेत्र को प्राप्त करने का उद्योग करो !

वीर्य की रक्षा करने वाली नियमावली का नाम 'सञ्जीवनी-विद्या' है। जो इसे नहीं जानता, वह मृतक हो जाता है। अर्थात् अपने को विकारों से सुरक्षित नहीं रख सकता। वीर्य-नाश का ही नाम मृत्यु है, जो इस विद्या को नहीं जानता, वह अपने को इस मृत्यु से बचा नहीं सकता। यदि तुम इस शुक्र-संरक्षण-विधि को जानते हो, और इसका अभ्यास भी है, तो तुम स्वयं तो सुरक्षित हुई हो, परन्तु औरों को भी तुम मृतकत्व से जीवित कर सकते हो। यह तुम्हारे लिये सब से सुख की बात होगी।

ब्रह्मचारियों को चाहिये कि इन दोनों आचार्यों का अनुकरण करें। इन दोनों ने ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिये, जो योग्यतायें प्राप्त की थीं, वे सब के लिये और सब कालों में, मनुष्य का हित कर सकती हैं। इन आचार्यों को अपना आचार्य मान कर, साधना में तत्पर हो जायँ !

२०—त्रिनेत्र और सञ्जीवनी-विद्या

त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धिम्पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥

(यजुर्वेद)

हम तीन नेत्र धारण करने वाले उस शिव की उपासना करते हैं, जो आनन्द और आरोग्य की वृद्धि करते हैं। वे खर्बूज नामक

फल विशेष की भाँति हमें मृत्यु-बन्धन से मुक्त करें, और दीर्घ जीवन दें।

"ह्येषा सञ्जीवनी-विद्या, सञ्जीवयति, मानवम्।"

(सूक्ति)

यह सञ्जीवनी नाम की विद्या निश्चय-पूर्वक मनुष्य को मरने से रक्षित रखती है। इसीलिये इसका नाम सञ्जीवनी पड़ा है।

हमारे मत से प्रत्येक पुरुष भगवान् शंकर और शुक्राचार्य बन सकता है। शङ्कर का अर्थ है—सुख-कारक। जो अपना तथा संसार का कल्याण करे, वह शङ्कर है। और शुक्राचार्य का अभिप्राय है—वीर्य-रक्षक। जो स्वयं वीर्य का संरक्षण करे और संसार को भी वीर्य-रक्षा का उपदेश दे कर, सुधारे।

यह बात छोटे-बड़े प्रायः सभी लोग जानते हैं कि शङ्कर के पास 'तीन नेत्र' थे। स्वाभाविक दो नेत्रों के अतिरिक्त एक विचित्र नेत्र उनके ललाट में था। इसे वे गुप्त रखते थे। जब जनता में तमोगुण की वृद्धि होती थी, तब वे इसे प्रकट कर, इस से संहार का काम लेते थे। कामदेव के आक्रमण करने पर, उन्होंने इसी के बल से उसे दग्ध कर अपने ब्रह्मचर्य का संरक्षण किया था। इसी नेत्र के कारण देवों ने उन्हें अपना गुरु मान लिया था, और असुर-समूह उनसे सदा भय-भीत रहता था। यह नेत्र उन्हें मिला कहाँ से था? ब्रह्मचर्ययुक्त योग-साधन से! यह तीसरा नेत्र क्या था?—आत्मज्ञान था!

यदि तुम शङ्कर बनना चाहते हो, तो इस तृतीय नेत्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। बिना इसके तुम अपने मनो-विकारों

का कदापि नाश नहीं कर सकते। मनोविकारों के नष्ट होने से ही मनुष्य अपना तथा संसार का हित कर सकता है। त्रिनेत्र हो जाने पर समस्त दुर्गुणों को भी नष्ट किया जा सकता है। इस प्रलयङ्कारी नेत्र का बड़ा माहात्म्य है। इसी के प्राप्त हो जाने से शिव 'मृत्युञ्जय' भी बन गये थे। तुम भी कामनाशक मृत्युञ्जय बन सकते हो! इसके बल से तुम्हारा अखण्ड ब्रह्मचर्य तप कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता।

यह बात हम पहले कह आये हैं कि शुक्र के पास 'सञ्जीवनी-विद्या' थी। इसी के प्रताप से वे असुरों को जीवित कर देते थे। असुर लोग उन्हें आचार्य मानते थे। उन्होंने इसी के प्रयोग से कच नाम के विद्यार्थी को जीवित कर दिया था।

कच बृहस्पतिके पुत्र थे ये सञ्जीवनी विद्या सीखने के लिये शुक्र के पास गये और ब्रह्मचर्य से रह कर विद्या सीखने का निवेदन किया। यह बात असुरों को ज्ञात हुई। इस पर वे जले और कच को मार डाला। पर शुक्राचार्य ने उन्हें पुनः जीवित कर दिया।

यह सञ्जीवनी-विद्या क्या थी? वीर्य-संरक्षण की प्रणाली थी। असुरों ने कई बार कच को मार डाला था। इसका यही अभिप्राय है कि उसे अपने संसर्ग से वीर्य-नाशक—व्यभिचारी बना डाला था। हम कह चुके हैं कि वीर्य-नाश ही मृत्यु है। इसलिये शुक्र ने कच को वीर्य-रक्षा के उपाय बता कर, उसे सचेत कर दिया। वह पुनः सदाचार से रहने लगा। इसी सञ्जीवनी-विद्या के पा जाने से कच ने देवयानी जैसी सुन्दरी का तिरस्कार अन्त में कर दिया था।

अब पाठक 'त्रिनेत्र' और 'सञ्जीवनी-विद्या' के उपाख्यानों

का रहस्य समझ गये होंगे। ब्रह्मचर्य से रहने वाले सदाचारी को 'देव' और वीर्य-नाश करने वाले दुश्चरित्र को 'असुर' समझना चाहिये।

त्रिनेत्र प्राप्त होने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है और सञ्जीवनी-विद्या से वीर्य-नाश से उद्धार होता है। जो ब्रह्मचारी हैं, वे तो मनोविकारों का नाश कर सुरक्षित रहते हैं और जो व्यभिचारी हैं, वे ब्रह्मचर्य से रहने के लिये उपाय खोजते हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह त्रिनेत्र और सञ्जीवनी विद्या—दोनों को प्राप्त करे। त्रिनेत्र 'आत्मज्ञान' और सञ्जीवनी विद्या—'वीर्य-रक्षा-प्रणाली' है। इन दोनों की प्राप्ति से देव और असुर—दोनों प्रकार के मनुष्यों का उद्धार निश्चित है।

२१—अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य-सूक्त

सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।' 'प्रमाणं परमं श्रुतिः।'

(धर्मज्ञभूषण मनु)

सब कुछ वेद से सिद्ध होता है। कारण यह है कि वेद में सभी प्रकार के विषयों का संग्रह है।

सब से बढ़ कर प्रमाण वेद है। जिस बात का समर्थन वेद में है, वह अन्य ग्रन्थ के प्रमाणों की उपेक्षा नहीं करता।

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः।"

(भाष्यकार सायणाचार्य)

जो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के नाश करने का सदुपाय बतावे, उसे वेद कहते हैं।

इस खण्ड में हम अनेक प्रकार के प्रमाणों और उदाहरणों से ब्रह्मचर्य का महत्व दिखला चुके हैं। अब हम इसे वेद में दिखलाना चाहते हैं। क्योंकि मानवी-सभ्यता के सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ वेद ही हैं।

ब्रह्मचर्य बहुत ही महत्व-पूर्ण विषय है। वेद जैसे सार्वभौम ग्रन्थ में इसके आदर्शों की महिमा का वर्णन न होना अत्यन्त असम्भव है!

यों तो प्राय: सभी वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कुछ न कुछ भाव प्रकट किया गया है, पर हमारे अथर्ववेद में तो एक सूक्त का सूक्त ही, इस महत्व-पूर्ण विषय से परिपूर्ण है। इस सूक्त का नाम ही 'ब्रह्मचारी' या 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' पड़ गया है। इस सूक्त में सब २६ मन्त्र हैं। इनमें ब्रह्मचारी की महत्ता, कर्त्तव्यशीलता और व्यवहार-निष्ठा—ब्रह्मचर्य की महिमा, कार्यसिद्धि और व्यापकता, एवं आचार्य के धर्म, महत्व तथा उपदेश का वर्णन अलङ्कार-मयी भाषा में बड़े सार-गर्भित रूप से किया गया है। यह बड़े काम का है। यदि एक एक कर के भाव सहित सब मन्त्र कण्ठस्थ कर लिये जायँ, तो बहुत ही लाभ पहुँच सकता है। एतदर्थ हम सम्पूर्ण सूक्त को अर्थ तथा भावार्थ सहित पाठकों के हित की दृष्टि से लिख देना चाहते हैं।

आजकल वेदों का विज्ञान-युक्त अर्थ करने वाले बहुत ही कम लोग हैं। इसीलिये अनर्गल अर्थों से लोगों में केवल भ्रम फैल जाता है, और लाभ कुछ नहीं होता। वेदों की भाषा अपौरुषेय है, इसलिये देश, काल और पात्र के अनुकूल एक ही ऋचा के कई अर्थ हो जाते हैं। पण्डितवर रावण, महीधर, सायण-

चार्य, शङ्कराचार्य और स्वामी दयानन्द—जितने भाष्यकार हुये है, प्रायः सबोंने अपने-अपने मन के अनुकूल अर्थ किया है। 'ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका' में पुराने भाष्यों की अनर्थता और उनके भ्रमों का युक्ति-युक्त खण्डन किया गया है और यह बात सिद्ध की गई है कि वेद में विज्ञान-विरुद्ध अर्थ है ही नहीं।

हम इस ब्रह्मचर्य-सूक्त का वास्तविक अर्थ काशी के एक विद्वान्-वेदज्ञ-ब्राह्मण से समझना चाहते थे, पर खेद है, वे इस कार्य में असमर्थ ज्ञात हुये। और उन्होंने यह भी कहा कि यहाँ की पण्डितमण्डली तो वही पुराना अर्थ करेगी। अतः हमने स्वयं परिश्रम कर, सुसङ्गत भावों के निकालने की चेष्टा की। और उसी पर संतोष किया, उन्हें पाठक स्वयं आगे देखेंगे :—

ब्रह्मचर्य-सूक्त

(१)

ब्रह्मचारी ष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः सम्मनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवञ्च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥

(१) ब्रह्मचारी पृथिवी और आकाश को वश में करता हुआ चलता है। (२) उसमें देव लोग मन के साथ रहते हैं। (३) वह पृथिवी और आकाश को धारण करता है और (४) वह आचार्य को तप से पूर्ण करता है।

(१) ब्रह्मचारी ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों को अपने अधिकार में करने के लिये, सदैव उद्योग करता है।

(२) इस उद्योग-साधन से उसके हृदय में सद्गुणों का आविर्भाव होता है।

(३) प्राप्त दिव्य गुणों के प्रभाव से, वह ऊपर के दोनों उच्च उद्देश्यों को प्राप्त करने में दक्ष हो जाता है।

(४) और इस प्रकार वह योग्य बनकर अच्छी योग्यता से अपने आचार्य को पूर्ण-काम करता है।

ब्रह्मचारी ऐहिक और पारलौकिक सुखों को साधने वाली विद्या का भली भाँति अध्ययन करता है। ज्यों ज्यों अध्ययन करता है, त्यों त्यों उसके हृदय में उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है। कुछ समय के अनन्तर, वह विद्वान् बन जाता है, और वह अपने आचार्य के निरन्तर के परिश्रम को भी इस प्रकार सफल करता है।

(२)

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः
पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः।
षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥

(१) ब्रह्मचारी को पितर, देवजन, अन्य देव और गन्धर्व, सभी लोग अनुसरते हैं। (२) वह अपने तप से ३०, ३०० और ६००० देवों को परिपूर्ण करता है।

(१) ब्रह्मचारी के पिता-पितामहादि, शुभैषी पुरवासी तथा गुणग्राही लोग, सभी उसका कल्याण चाहते हैं।

(२) और वह अपने अनुष्ठान से सर्वाङ्ग की दिव्य शक्तियों को विकसित करता है।

ब्रह्मचारी के सभी हितैषी (चाहने वाले) उसकी आशा लगाये

रहते हैं कि वह अपने व्रत से विचलित न होने पावे। जब उसका ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता है, और वह विद्या पढ़ लेता है, तब उसका मानसिक और शारीरिक विकास होता है।

इस मन्त्र में जो देवों की संख्या गिनाई गई है। उसका अभिप्राय यह है कि इस शरीर में भी सब देवों के अंश हैं। एक भी अङ्ग ऐसा नहीं, जिसमें कि एक न एक प्रकार की दैवी (प्राकृतिक) शक्ति न हो। उन्हीं के आधार पर मनुष्य जीवित रहता है। उन्हीं तीन, तीस, तीन सौ और छः सहस्र—गुण, धर्म, योग्यता और विषय के मूल को देव नाम से अभिहित किया।

(२)

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरेबिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

(१) ब्रह्मचारी को प्राप्त करने वाला आचार्य, उसे अन्तर्गत करता है (२) उसे तीन रात तक अपने उदर में रखता है और (३) उसके उत्पन्न होने पर देव-गण उसे देखने आते हैं।

(१) आचार्य अपने यहाँ आये हुये ब्रह्मचारी को अपने अधिकार में कर लेता है। वह बिना आचार्य की आज्ञा, कुछ भी नहीं कर सकता। अर्थात् ब्रह्मचारी से आज्ञा-पालन करवाता है।

(२)जब तक उस ब्रह्मचारी के त्रिविध अज्ञान दूर नहीं हो जाते, तब तक वह उसे अपने संरक्षण में रखता है।

(३) जब वह सुबोध हो जाता है—उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, तब आचार्य उसे अपने बन्धन से मुक्त कर देता है। फिर विद्वान् लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं।

उपनयन-संस्कार के हो जाने पर, ब्रह्मचारी अपने आचार्य के

सन्निकट जा कर उससे विद्या पढ़ने की प्रार्थना करता है। वह आचार्य उस ब्रह्मचारी को अपने आश्रम में रहने, तथा निरन्तर अध्ययन करने की आज्ञा देता है। वह उसे क्रमशः आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक—इन तीन दुःखों से बचने के लिये ज्ञानोपदेश करता है। जब वह समझ लेता है कि अब यह ब्रह्मचारी सुयोग्य और परिपक्व-बुद्धि हो गया, तब वह उसे स्वतन्त्र कर देता है। अर्थात् घर जाने की आज्ञा देता है, इस बात से उस ब्रह्मचारी की हित-कामना करने वाले लोग, उससे मिल कर प्रसन्न होते हैं।

(४)

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसापिपर्ति ॥

(१) यह पृथिवी पहली समिधा है। (२) दूसरी समिधा आकाश है, जिससे वह अन्तरिक्ष को प्रसन्न करता है और (३) ब्रह्मचारी समिधा, मेखला, श्रम और तप से लोक को पूर्ण करता है।

(१) पहली 'परा विद्या' है, जिससे भौतिक वस्तुओं का बोध होता है।

(२) दूसरी 'अपरा विद्या' है जिससे अध्यात्मिक अनुभव किया जाता है और जिसके प्राप्त होने पर आत्मानन्द प्राप्त होता है।

(३) और ब्रह्मचारी अपनी विद्या, कटिबद्धता, परिश्रम तथा अनुष्ठान से लोगों को तृप्त करता है।

ब्रह्मचारी अपने आचार्य से भौतिक और अध्यात्मिक विद्यायें सीखता है। अध्यात्मिक ज्ञान हो जाने से उसका आत्मा सन्तुष्ट हो

जाता है। तत्पश्चात् वह अपने आचार्य से विलग हो कर अपनी विद्या, कटिबद्धता, परिश्रम और अध्यवसाय से समाज-सेवा में लग जाता है। यहीं से उसका सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है।

(५)

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी, घर्मं वसानस्तपसो दतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं। देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

(१) ब्रह्म के पहले ब्रह्मचारी होता है। (२) उष्णता के साथ तप से ऊपर उठता है। (३) उससे ज्येष्ठ ब्रह्म उत्पन्न होता है और (४) सब देव अमृत के साथ रहते हैं।

(१) ब्रह्मचारी ज्ञान-प्राप्ति के पहले से ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

(२) वह अपने ब्रह्मतेज के प्रताप से उन्नति करता है।

(३) ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से ही उसे श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है।

(४) और परमोत्तम ज्ञान के होने पर, उसके सभी दिव्य गुण, सुख के साधन बन जाते हैं।

ब्रह्मचारी जब तक विद्याध्ययन न करले, तब तक ब्रह्मचर्य (वीर्य-रक्षण) का यथावत पालन करे। विद्या से ब्रह्मतेज और उस तेज के कारण ही, उसे आत्म-विकास हो प्राप्त सकता है। क्योंकि जिसका आत्मा विकसित होता है, वही पुरुष धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ ज्ञान का अधिकारी है। जो ज्ञानी होता है, उसके सद्-गुण उसे निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करा देते हैं।

(६)

ब्रह्मचार्येतिसमिधा समिद्धःकार्ष्णंवसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
ससद्यएति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं, लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥

(१) ब्रह्मचारी समिधा से विभूषित, कृष्ण हरिण-चर्म पहनता हुआ और दीर्घ श्मश्रु को धारण करता हुआ आगे बढ़ता है। (२) वह पूर्व से उत्तर समुद्र तक शीघ्र पहुँचता है और (३) लोक-संग्रह कर के बार-बार उत्तेजित करता है।

(१) ब्रह्मचारी अपने को विद्या से उन्नत करता है। वह काले हरिण का चर्म पहनता है; और मूछदाढ़ी को बढ़ने देता है। वह प्रगति करने के लिये चेष्टित रहता है।

(२) इस प्रकार वह विद्या का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर, ज्ञानरूपी समुद्र के आदि से अन्त तक पहुँचता है।

(३) और संसार के साथ सद्व्यवहार कर, उसे सत्कर्म के लिये उत्साहित करता है।

ब्रह्मचारी पहले विद्याध्ययन से अपनी उन्नति करता है। काले रंग के मृगचर्म और बड़े-बड़े केश आदि के धारण करने से उसकी पवित्रता, सरलता और निरभिमानता सूचित होती है। अर्थात् वह शुद्ध और साधु-वेष में रहता है। वह अपनी प्रगति पर विशेष ध्यान देता है। इसी से वह थोड़े ही समय में वेद—वेदाङ्गों के ज्ञान में पारङ्गत हो जाता है। इसके अनन्तर वह कार्यक्षेत्र में पदार्पण करता है। यहाँ वह अपने अनुपम उपदेशों से लोगों में एकता उत्पन्न करता है, और उन्हें सत्कर्म करने के लिये बार-बार उत्साहित करता रहता है। अर्थात् जनता को सुसंस्कृत करना ही उसका ध्येय होता है।

(७)

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भोभूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रोह भूत्वाऽसुरां स्ततर्ह ॥

ब्रह्मचारी लोक, प्रजापति और तेजस्वी परमेश्वर को उत्पन्न करता हुआ, अमृत के गर्भ में रहकर, इन्द्र हो कर, निश्चय पूर्वक असुरों का नाश करता है।

जो ब्रह्मचारी प्रजा, राजा और परमात्मा को तुष्ट करने के लिये, सत्कर्म कर रहा था, वही अब ज्ञान के गूढ़ विषयों से परिपूर्ण हो कर—विद्वानों में श्रेष्ठ बन कर—दुर्गुणों का नाश करता है। अर्थात् संसार को उपदेश देता है।

ब्रह्मचारी प्रजा, राजा और ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिये ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या का अध्ययन करता है। इससे सत्कर्म का जन्म-दाता है। क्योंकि इस संसार में राजा, प्रजा और ईश्वर—इन्हीं तीनों के प्रति ही सभी कर्तव्य होते हैं। जब वह विद्या से पूर्ण हो जाता है, तब सुखमय गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर देश, जाति और समाज की योग्य सेवा करता है। वह अपने उत्तम विचारों का प्रचार कर, लोगों के कुसंस्कारों और दुर्गुणों का नाश करता है।

(८)

आचार्यस्ततक्षनभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवञ्च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तस्मिन्देवाः सम्मनसो भवन्ति ॥

(१) आचार्य बड़े गम्भीर दोनों लोकों—पृथिवी और आकाश को बनाता है। (२) ब्रह्मचारी अपने तप से उनकी

रक्षा करता है । और (३) देव लोग उसके मन के साथ रहते हैं ।

(१) आचार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण 'भौतिक और अध्यात्मिक' ज्ञान का उपदेश करता है ।

(२) ब्रह्मचारी उनको अपने अनुष्ठित व्रत के साथ हृदयङ्गम करता जाता है ।

(३) और इस प्रकार उसके (ब्रह्मचारी) सभी दिव्य गुण विकसित होते हैं ।

आचार्य ही भौतिक और अध्यात्मिक ज्ञान का कर्त्ता है । जब वह अपने शिष्य को पण्डित बना देता है, तब वह भी उसी की भाँति अपनी प्राप्त विद्या की रक्षा करता है । आचार्य जो कुछ उस (ब्रह्मचारी) को सिखाता है, वह उसे भूलने नहीं देता । ब्रह्मचर्य के प्रताप से उसकी विद्या रक्षित रहती है, समयानुकूल बढ़ती भी जाती है । इसलिये उसके दिव्य गुण सारे संसार में विख्यात होते हैं ।

(६)

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवञ्च ।
ते कृत्वा समिधा वुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥

(१) पहले ब्रह्मचारी ने इस विस्तृत भूमि और आकाश की भिक्षा ग्रहण की । (२) अब उनकी दो समिधायें बनाकर, उपासना करता है । और (३) इन्हीं के बीच में सब भुवनों की स्थिति है ।

(१) ब्रह्मचारी प्रथमतः भौतिक और आध्यात्मिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करता है ।

(२) फिर उन परा और अपरा विद्याओं का मनन करता है। जिन्हें आचार्य उसे देता है।

(३) और इन्हीं दोनों के बीच में सब कुछ भरा पड़ा है।

ब्रह्मचारी अपने आचार्य से भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का भिक्षा लेता है। 'ऐहिक और पारलौकिक' विद्या की प्राप्ति से उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। इस यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर फिर उसके सारे मनोरथ स्वयं सधते हैं। यही उसकी भिक्षा का आदर्श है।

(१०)

अर्वागन्यः परोऽन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहानिधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौरक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥

(१) एक पास है और दूसरा आकाश से भी दूर है। वे दोनों कोश ब्राह्मण की गुहा में धरे हुये हैं। (२) ब्रह्मचारी अपने तप से उनकी रक्षा करता है। वह रहस्य ब्रह्म-विद्वान् ही जान सकता है।

(१) भौतिक ज्ञान पास, और आध्यात्मिक ज्ञान बहुत दूर है। वे दोनों वेद में छिपे हुये हैं।

(२) ब्रह्मचारी अपने तपोऽनुष्ठान से उन दोनों को अपने अधिकार में कर लेता है।

(३) इन दोनों के रहस्य को ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही समुचित जानता है।

'भौतिक-ज्ञान' से भी कठिन 'ब्रह्म-ज्ञान' है। आचार्य उन दोनों को, अपने शिष्य को वेदाध्ययन से सिखला देता है। वह

भी उसको फिर किसी प्रकार नष्ट नहीं होने देता। जो पुरुष वेद का ज्ञाता नहीं, उसे यह रहस्य नहीं विदित होता।

(११)

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढा स्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥

(१) यहाँ एक है, और दूसरी इस लोक से बहुत दूर है। ये दोनों अग्नि, पृथ्वी और आकाश के बीच में मिल जाती हैं। (२) उनकी तीव्र किरणें फैलती हैं और ब्रह्मचारी उनको तप से अधिकार में करता है।

(१) कर्म ऐहिक और ज्ञान पारलौकिक—ये दो अग्नि हैं। इन दोनों का मिलाप भौतिक और आध्यात्मिक साधनों से होता है।

(२) इन दोनों की गति बड़ी तीव्र है, जो सर्वत्र प्रस्फुटित होती है। ब्रह्मचारी उन दोनों को अपनी तपस्या से साध लेता है।

ब्रह्मचारी आचार्य के यहाँ रहकर 'वैदिक कर्म' और 'आत्म-ज्ञान' दोनों की साधना करता है। 'कर्म और ज्ञान'—दोनों में ही गूढ़ तत्व भरा हुआ है। जहाँ ये दोनों मिलते हैं—जहाँ इनका समान रूप से आदर किया जाता है, वहीं अच्छी प्रगति और सफलता मिलती है। इसी से ब्रह्मचर्य की अवस्था में दोनों का बराबर अनुष्ठान करना पड़ता है।

(१२)

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो बृहच्छेपोऽनुभूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥

(१) घोर गर्जना करता हुआ, भूरा और साँवला तथा बड़े

आकार वाला मेघ भूमि का पोषण करता है। (२) अपने रेतस से पृथिवी और पर्वत को सींचता है और (३) उससे चारों दिशायें जीवित होती हैं।

(१) उच्च स्वर से संसार को सचेत करता हुआ, जाज्वल्य-स्वरूप वाला तथा हृष्ट-पुष्ट अङ्गो पाङ्गों वाला ब्रह्मचारी संसार का पालन करता है।

(२) वह बड़े से लेकर छोटे तक, सब के हित का उपदेश देता है। अर्थात् वह समदृष्टि होता है।

(३) और उसके उपदेश से चारों ओर लोगों में जीवन पड़ जाता है। अर्थात् सर्वत्र जागृति उत्पन्न होती है।

इस मन्त्र में ब्रह्मचारी को मेघ बना कर, उससे उसके कार्यों की तुलना की गई है।

जैसे मेघ भीमनाद करता है, वैसे वेद-घोष करने वाला ब्रह्मचारी भी ओजस्वी व्याख्यान देता है। मेघ के स्वरूप में जो सुन्दरता है, वह उसमें भी है। मेघ जैसे बृहत्काय है. वैसे यह भी हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला होता है। वह पृथिवी का पोषण करता है, यह भी जनता का सुधार करता है। वह अपना जल पर्वत से पृथिवी पर्यन्त बरसाता है। यह भी अपना ज्ञानोपदेश, बड़े-छोटे का भेद-भाव छोड़कर, सब लोगों को समान रूप से देता है। उसकी वर्षा से चारो दिशाओं में आनन्द होता है। इसकी भी शिक्षा से सर्वत्र सुख ही सुख उत्पन्न हो जाता है। अतः गुण, धर्म तथा स्वभाव के मिल जाने से, ब्रह्मचारी भी मेघ और मेघ भी ब्रह्मचारी ठहरा। दोनों में कैसी अच्छी समता दरसाई गई है!

(१३)

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमादधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥

(१) ब्रह्मचारी अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और जल में समिधा डालता है। (२) उनकी किरणें अन्य मेघों में पहुँचती हैं। और (३) उनसे घृत, पुरुष, वर्ष और जल की उत्पति होती है।

(१) ब्रह्मचारी वाणी, नेत्र, मन, प्राण और वीय की शक्तियों को बढ़ाता है।

(२) इन शक्तियों के प्रभाव से वह दूसरे उपकारी लोगों को भी प्रभावित करता है।

(३) और उन शक्तियों के कारण बुद्धि, बल, ज्ञान, सुख और शान्ति की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से अपनी आत्मिक और शारीरिक शक्तियों को बढ़ाता है। फिर वह अन्य सुपात्र लोगों को इन शक्तियों के बढ़ाने का उपदेश करता है। इस प्रकार उसके कारण उनमें बुद्धि बल, ज्ञान, सुख और शान्ति की घृद्धि होती है। ऊपर के मन्त्र का यही मूल तात्पर्य है।

(१४)

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥

आचार्य मृत्यु, वरुण, सोम, औषध और पय है। उसके सद्भाव मेघ हैं, उनसे यह तेज रक्षित होता है।

आचार्य अज्ञान-नाशक, सदाचार-शिक्षक, शान्ति-दायक, शुद्धि-

कारक और उत्साह-वर्द्धक होता है। उसके सात्विक गुणों से यह अधिकार प्राप्त होता है।

आचार्य अपने ब्रह्मचारी शिष्य के अज्ञान-रूपी शरीर का नाश कर, उसको सदाचार की शिक्षा देता है। उसकी शान्ति और पवित्रता के लिये यत्न करता है, और सत्कर्म करने के लिये सदा उत्साहित करता रहता है। उसके सात्विक गुणों से ही विद्यार्थी पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। इसीलिये उसका इतना महत्व है। वास्तव में ब्रह्मचारी के लिये वह सब कुछ है।

(१५)

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥

(१) आचार्य शिष्य के सम्मेलन से केवल घृत निकालता है। और (२) वरुण बन कर, जो जो प्रजापति के लिये चाहता है, सो सो सूर्य ब्रह्मचारी अपनी आत्मिकता से प्रदान करता है।

(१) आचार्य अपने यहाँ रहने वाले ब्रह्मचारी के सहवास से परमोत्तम ज्ञान को उत्पन्न करता है।

(२) और मार्ग दर्शक बन कर प्रजा के पालन के लिये, जो विचार करता है, उसे वह सूर्य सा प्रतिभावान् ब्रह्मचारी अपनी योग्यता से पूर्ण करता है।

अचार्य अपने शिष्य ब्रह्मचारी को पास रख कर, गूढ़ तत्वों का उपदेश करता है। उसकी शङ्काओं का समाधान करता है। वह जिन श्रेष्ठ विचारों को जनता के हित के, उस पर प्रकट करता है, वह भी योग्य हो कर, अपने आचार्य की आज्ञा का पालन करता है।

(१६)

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद्वशी ॥

(१) आचार्य ब्रह्मचारी है (२) प्रजापति ब्रह्मचारी है । प्रजापति विराजित होता है, (३) और संयमी विराट् इन्द्र है ।

(१) आचार्य ब्रह्मचारी रह कर, ज्ञानोपदेश करता है ।

(२) राज्याधीश भी ब्रह्मचर्य का पालन कर शासन करता है।

(३) और संयमी राजा भी नृपेन्द्र कहलाता है ।

आचार्य शिष्य पर और राजा प्रजा पर शासन करता है । इस लिये इन दोनों को ब्रह्मचारी होना योग्य है । अर्थात् इन्हें ज्ञानी और बली होना चाहिये । क्योंकि आचार्य का अनुकरण उसके शिष्य तथा राजा के आचरण का अनुकरण उसकी प्रजा करती है । यदि ये ब्रह्मचारी न हों, कुमार्गगामी हों, तो इन दोनों शिष्य और प्रजा के ब्रह्मचर्य में बाधा पहुँचती है । ठीक है:—

"यथा गुरुस्तथा शिष्यो, यथा राजा तथा प्रजा ।"

(१७)

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिण मिच्छते ॥

(१) ब्रह्मचर्य के तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है । और (२) आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को चाहता है ।

(१) ब्रह्मचर्य के प्रभाव से राजा अपनी प्रजा को अधिकार में रखता है ।

(२) और आचार्य ब्रह्मचर्य के ही कारण अपने विद्यार्थी का प्रिय करता है ।

देश की सुख-शान्ति के दो ही स्तम्भ हैं। एक राजा और दूसरा आचार्य। इन दोनों को ब्रह्मचारी होना चाहिये। एक 'बल' से और दूसरा 'ज्ञान' से लोक-सेवा करता है। इस दृष्टि से यहाँ दोनों में समानता है, जिस राजा में विक्रम नहीं, उसकी प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है और जिस आचार्य में बोध नहीं, उसका शिष्य भी अपठ, अयोग्य तथा मूर्ख हो जाता है। विक्रम और बोध दोनों का मूल 'ब्रह्मचर्य' ही है।

(१८)

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥

(१) ब्रह्मचर्य से कन्या युवक पति वरती है और (२) वृषभ तथा अश्व भी ब्रह्मचर्य-पालन से घास खाता है।

(१) कन्या ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर, योग्य और युवा पति को प्राप्त करती है।

(२) और वीर्यवान् इन्द्रिय-समूह भी ब्रह्मचर्य-बल से ही अपने विषयों का उपभोग कर सकता है।

जैसे बालक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वैसे ही कन्यायें भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं। तत्पश्चात् वे अपने सदृश वर से परिणय करने योग्य होती हैं। अनड्वान का अभिप्राय 'वीर्यवान' और अश्व का 'इन्द्रिय-समूह' और घास का उसके 'विषय' से है। ब्रह्म-चर्य के पालन से इन्द्रिय-समूह वीर्यवान् (परिपुष्ट) हो जाता है। परिपुष्ट होने पर, ही वह अपने व्यापार को समुचित रूप में कर सकता है।

उदाहरण के लिये एक इन्द्रिय 'नेत्र' को ही लीजिये। इसका

विषय अवलोकन है। यदि यह अशक्त हो जाय, तो ठीक-ठीक देखने का व्यापार नहीं हो सकता।

अनड्वान, अश्व और घास का प्रचलित अर्थ नहीं। यदि ऐसा होता, तो वेद की, इस कन्या के ब्रह्मचर्य वाली ऋचा के साथ यह असङ्गत बात न कही जाती!

ऊपर के मन्त्र में अलङ्कार-रूप से यही बात समझाई गई है। इससे पुरुष-स्त्री सब के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक प्रतीत होता है।

(१६)

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

(१) ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु को जीता। और (२) इन्द्र ब्रह्मचर्य से ही देवों में तेज भरता है।

(१) अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन से ही विद्वानों ने अकाल मृत्यु को वश में किया।

(२) और ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से सर्व-श्रेष्ठ विद्वान्, योग्य पुरुषों को ज्ञानोपदेश करता है।

प्राचीन समय में कई अखण्ड ब्रह्मचारी हो गये हैं, जो मृत्यु को भी कुछ नहीं समझते थे। जब उनकी इच्छा होती थी, तभी शरीर छोड़ते थे। यही मृत्यु पर विजय प्राप्त करना कहलाता है?

बिना ब्रह्मचर्य के कोई उत्तम विद्वान् नहीं हो सकता। इसी-लिये जो परमोत्तम विद्वान् होना चाहे, वह ब्रह्मचर्य का अवश्य पालन करे। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही वह जनता के योग्य पुरुषों में प्रतिष्ठित हो सकता है।

(२०)

ओषधयो भूतभव्य महोरात्रे वनस्पतिः।
सम्वत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

ओषध, वनस्पति, भूत-भव्य, दिन-रात और ऋतुओं के साथ सम्वत्सर, सभी ब्रह्मचारी हैं।

औषधियों, वनस्पतियों, भूत-भविष्य, दिन-रात और ऋतुओं के साथ रमने वाला सम्वत्, सभी में ब्रह्मचय है।

यदि ये सब नियमों के अनुकूल न चलें, तो इनमें शक्ति नहीं रह जाती। संयम से ही सब की स्थिति है। जड़-जङ्गममय संसार भर में ब्रह्मचर्य का महत्व है। अतः मनुष्य को ब्रचह्मर्य में श्रद्धा रखनी चाहिये।

(२१)

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्चये।
अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

पृथिवी पर चलने वाले, आकाश में उड़ने वाले तथा वन और ग्राम के पशु-पक्षी, सब ब्रह्मचारी हैं।

स्थलचर, नभचर, वन और ग्राम में रहने वाले जितने पशु-पक्षी हैं, सभी अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हैं। इनमें परमेश्वर ने एक शक्ति ऐसी दी है, जिससे कि ये ब्रह्मचर्य के महत्व को अपने हृदय में अनुभव करते हैं। इनमें ब्रह्मचर्य-रक्षा की स्वाभाविक परिपाटी हाती है। इनसे मनुष्यों को भी यही शिक्षा लेनी चाहिये।

(२२)

पृथक् सर्वे प्रजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्या भृतम्॥

(१) प्रजापति से सब उत्पन्न हुये हैं। सब पृथक्-पृथक् अपने में प्राण रखते हैं। और (२) ब्रह्मचारी में धारण किया हुआ ब्रह्म, उन सब की रक्षा करता है।

(१) उस पूज्य परम पिता परमात्मा से सभी जीवों तथा पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। उन सब में अलग-अलग जीवन-शक्ति विद्यमान है।

(२) और ब्रह्मचारी जिस ब्रह्म को अपने आत्मा में अधिष्ठित करता है, वह उन सबको सुरक्षित रखता है।

यह सारी सृष्टि परमेश्वर की ही बनाई हुई है। नाम और रूप के भेद से सब वस्तुयें पृथक्-पृथक् सत्ता में जान पड़ती हैं। ब्रह्मचारी इसीलिये अपने व्रत का पालन करता है कि वह श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर विश्वभर का कल्याण करने में समर्थ हो। ब्रह्मचर्य के पालन से ही संसार की रक्षा होती है।

(२३)

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

(१) देवों का यह अत्यन्त गौरवान्वित तथा उत्साह-वर्द्धक तेज है। (२) उससे सर्व-श्रेष्ठ ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है। और (३) देव लोग अमृत के साथ निवास करते हैं।

(१) यह विद्वानों का गूढ़ तथा साहस बढ़ाने वाला तेज उन्नति करता है।

(२) उस तेजोबल से उनमें परमोत्तम ब्रह्मज्ञान की वृद्धि होती है।

(३) और सब सद्गुण इस अमृत (न मरनेवाला पदार्थ) के सङ्ग में रहते हैं।

ब्रह्मचर्य ही विद्वान् लोगों का उच्च तथा उत्साह-दायक ध्येय है। वे इसका पूर्ण रूप से पालन करते हैं। इसका सद्भाव उनको उन्नत बनाता है। इससे उनके हृदय में सब से उत्तम ब्रह्मज्ञान का उदय होता है, और ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने से उन के अन्त-र्गत सभी अच्छे गुण अपने आप स्थायी रूप से रहने लगते हैं। अर्थात् उनके सदभ्यस्त विचार स्खलित नहीं होने पाते।

(२४)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥

(१) ब्रह्मचारी चमकीले ब्रह्म को भरता है। (२) उसमें सब देवलोग रहते हैं और (३) प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, ज्ञान और मेधा उत्पन्न करता है।

(१) ब्रह्मचारी उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

(२) इस से सभी संसार के सद्गुण उस में एकत्र हो जाते हैं।

(३) और यह अपने अनुष्ठान से प्राणों, वाचा-शक्ति, मन, हृदय, ज्ञान और बुद्धि को पुष्ट करता है।

वीर्य ही परमेश्वर का तात्विक रूप है! ब्रह्मचारी उसे अपने शरीर में धारण करता है। इस चर्या से उसके सभी दिव्य गुणों की उन्नति होती है। इस प्रकार वह अपने तप के प्रभाव से समस्त शारीरिक और मानसिक शक्तियों को प्रबल और संयमित बनाता है।

(२५)

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहित मुदरम् ॥

हमलोगों को चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस, लोहित और उदर दो।

हे ब्रह्मचारी! हमको सुदृष्टि, सुश्रवण, कीर्ति, प्राण, वीर्य, रक्त और पालन-पोषण करने की शक्ति दो। ब्रह्मचर्य के अधीन विश्व की बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी शक्तियाँ होती हैं। परमात्मा भी ब्रह्मचारी है और ब्रह्मचारी भी परमात्म-रूप है। इसीलिये उससे इन सब दिव्य शक्तियों की याचना की गई है। हे परमात्मा के अंशभूत ब्रह्मचारी! तुम जनता में सुख और शान्ति के बढ़ाने के लिये नाना प्रकार के सदाचार-सम्बन्धी उपदेश करो, तथा ऐसे यत्न बताओ, जिनसे कि संसार के अमङ्गल-कारी अवगुणों का नाश हो!

(२६)

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥

(१) ब्रह्मचारी उन सबों का उपक्रम करता है (२) वह समुद्र में तप्त होने वाला जल के पीठ पर तप करता है। और (३) वह स्नान कर के अत्यन्त तेज वाला होकर, पृथिवी में अच्छा माना जाता है।

(१) ब्रह्मचारी ऊपर कहे गये, उन सब सद्गुणों और विश्व-सुधार के उपदेशों की योजना करता है।

(२) वह ज्ञान-रूपी सागर में अपने को तपा कर, सुख रूपी जल के तीर पर अपने व्रत का अनुष्ठान करने लगता है।

(२) और वह तेजस्वी स्नातक बनकर संसार में अपने सदुपदेशों से सम्मानित होता है।

ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहकर, विद्याध्ययन से नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक शिक्षायें प्राप्त करता है। वह अत्यन्त परिश्रम से ज्ञानार्जन कर के सुख के समीप पहुँचता है। वह अपने को योग्य बना कर अपनी परम श्रेष्ठता, योग्यता और गौरव-गरिमा से संसार में शोभित होता है। वह जनता का हित करता है, और उसकी जनता उचित पूजा करती है।

वस्तुतः वीर्य-रक्षण से ही आत्मिक शक्तियाँ विकसित हो सकती हैं। अवीर्यवान पुरुष को कभी जीवन में सफलता नहीं मिलती। जो अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष हैं, उन्हें इस वैदिक सूक्त की शिक्षाओं पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये। यदि वे उनके अनुकूल चलने का प्रयत्न करेंगे, तो उनके जीवन में सुख ही सुख दिखलाई पड़ेगा। वेद भगवान् का कथन कभी असत्य नहीं होसकता। इसे निश्चय समझो!

(अथर्ववेद ११, ५, १०—२६)

जिन्हें ऊपर के मन्त्रों की विशेष व्याख्या देखनी हो, वे लेखक की 'हिन्दी में ब्रह्मचर्य-सूक्त' नाम की पुस्तिका पढ़ें।

द्वितीय खण्ड

१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

(यजुर्वेद अ० १६ म० ४१)

सुख-स्वरूप और आनन्दमय परमात्मा को नमस्कार है—कल्याणकारी और मोक्षदाता प्रभु को नमस्कार है। और मङ्गल-कारी तथा अत्यन्त सुख देने वाले को नमस्कार है।

हे प्रभो! तुमने अपने योग बल से कामदेव को दग्ध कर दिया था। तुम्हारे योगयुक्त चित्त में विकार स्थान न पा सका। हम लोग तुम्हारी इस लिये उपासना करते हैं कि हमारे हृदय में काम-विकार उत्पन्न न हो। तुम हमें ऐसा बल दो कि हम ब्रह्म-चर्य का पालन करें, जिससे कि तुम्हारे स्नेह-भाजन बनें।

अशिव विचारों से ही ब्रह्मचर्य का नाश होता है। जब हम अपने को शिव-स्वरूप समझेंगे, तो फिर हमारे ऊपर कामदेव अपना बाण न चला सकेगा। यदि ऐसा करेगा, तो उसका निश्चय ही पराजय होगा। हम सुख और शान्तिदायक विविध नामों से तुम्हारी उपासना इसलिये करते हैं कि हमारा मङ्गल हो। बिना तुम्हारी अनुकम्पा के हमारा तप ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हो सकता।

अतः कल्याण की कामना से हमें अपने गुणों को प्रदान कर अपने नाम का सार्थक करा !

२—त्रिविध ब्रह्मचर्य

कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन-त्यागो, ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

(महामुनि याज्ञवल्क्य)

शरीर, मन और वचन से सब अवस्थाओं में, सर्वदा और सर्वत्र मैथुन (सम्भोग) त्याग के नाम को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

महामुनि याज्ञवल्क्य के मत से कायिक, मानसिक और वाचिक—ये तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य होते हैं। इन तीनों के समूह का नाम 'सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य' है । अतएव इन तीनों का पालन करने वाला पुरुष ही सम्पूर्ण ब्रह्मचारी होने के योग्य है ।

१—कायिक ब्रह्मचर्य—हाव, भाव एवं कटाक्ष, चुम्बन, आलिङ्गन, अङ्गमर्दन तथा उपस्थेन्द्रिय के सञ्चालन से सब प्रकार पृथक् रहने को कहते हैं ।

२—मानसिक ब्रह्मचर्य—विषय-चिन्तन, सम्भोग के मनोरथ, कामोद्दीपन साधनों की भावना, एवं विकारों के संग्रह को भली भाँति त्याग देना ही माना गया है ।

३—और वाचिक ब्रह्मचर्य—प्रेमालाप, विषय सम्बन्धी चर्चा, गुह्य सम्भाषण एवं हृदय में काम-विकार उत्पन्न करने वाली चातुर्य-पूर्ण कथा से विरक्त रहने का नाम है ।

बहुत से लोग ऐसे हैं, जो कायिक ब्रह्मचर्य का पालन करने पर भी मानसिक और वाचिक का पालन नहीं कर सकते। वे समझते हैं कि कायिक पाप ही पाप है। मानसिक और वाचिक पाप, पाप नहीं। यही कारण है कि वे कुछ ही दिनों में कायिक ब्रह्मचर्य को भी छोड़ बैठते हैं। हमारे विचार से कायिक ब्रह्मचर्य का रूप बहुत स्थूल है। इसके पालन में इतनी कठिनता नहीं, जितनी कि मानसिक और वाचिक के पालन में है।

हमारे विचार से 'मानसिक' ब्रह्मचर्य उत्तम, 'वाचिक' मध्यम और 'शारीरिक' अधम है। मन, वचन तथा कर्म का आपस में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो विचारते हैं कि वाचिक ब्रह्मचर्य में क्या धरा है। उसके छोड़ने से कुछ हानि नहीं हो सकती। ऐसी धारणा कर, वे वास्तव में मूर्खता करते हैं। वाचनिक ब्रह्मचर्य के बिगड़ने से कायिक ब्रह्मचर्य भी निस्सन्देह नष्ट हो जाता है। जो वाचनिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है, भला वह कायिक का पालन कैसे कर सकेगा?

बहुत से लोग मनोविज्ञान का महत्व न जान कर, मानसिक ब्रह्मचर्य की अवहेलना करते हैं। वे यह नहीं जानते कि मनकी ही प्रेरणा से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ काम करती हैं। वह इस शरीर का राजा है। वह जिस अवयव को चाहता है, उसे उसके विषय में तत्काल लगा देता है।

अब हम आगे के लेख में मानसिक ब्रह्मचर्य की प्रधानता दिखलाने की चेष्टा करेंगे।

३—मानसिक ब्रह्मचर्य की प्रधानता

यन्मनसा मनुते तद्वाचावदति,
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ।

(यजुर्वेदब्राह्मण)

जिसका मन में चिन्तन किया जाता है, वही वाणी से निकलता है, जो कुछ वाणी से निकलता है, वही कर्म किया जाता है, और जैसा कुछ कर्म किया जाता है, वैसा उसका फल भी मिलता है ।

ऊपर के मन्त्र में मन की स्पष्ट रूप से प्रधानता दिखलाई गई है। मन का ही अधिकार वचन और कर्म पर है। मानसिक विकार ही वाचिक और कायिक विकारों का मूल है । अतएव मानसिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला पुरुष ही वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य पाल सकता है । बहुत उचित कहा गया है:—

"मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध-मोक्षयो ।"

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण, उसका मन ही है । सब से पहले मन की ही साधना की जाती है । जिसका मन सध गया है, उसका वचन और शरीर पर भी अधिकार हो जाता है । जिसका मानसिक ब्रह्मचर्य छूट जाता है, उसका वाचिक और कायिक भी स्वयं छूट जाता है । इसीलिये मानसिक ब्रह्मचर्य ही का पालन करना प्रधान है । इसी के द्वारा कुछ दिनों में वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य भी स्वयं सध जाता है ।

मानसिक ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक पौराणिक आख्यायिका

है। वह हमारे विचार से रहस्य मयी और शिक्षा-दायिनी है। हम उसे पाठकों के हितार्थ यहाँ देना उचित समझते हैं:—

एक समय पितामह ब्रह्माजी तपोवन में जा कर तपस्या करने लगे। इस अनुष्ठान में उन्हें लगभग ३००० वर्ष बीत गये। यह दशा देख कर देवों के राजा इन्द्र को अत्यन्त द्वेष और भय हुआ। उन्होंने समझा कि कहीं ऐसा न हो कि तप सिद्ध होने पर, हमारे इन्द्रासन की मर्यादा हीन हो जाय। अतः उन्होंने तिलोत्तमा नाम की एक अप्सरा को तपोभङ्ग करने को भेजा। वह अप्सरा तपोवन में आकर अपना हाव, भाव और कटाक्ष करने लगी। यह दृश्य देख कर ब्रह्माजी के मन में विकार उत्पन्न हो गया। वह जिधर-जिधर जाती थी, वे भी उधर-उधर काम-दृष्टि से उसे देखते थे। इसके अनन्तर वह इन्द्र के पास लौट आई। पर ब्रह्मा जी अपने मानसिक ब्रह्मचर्य से पतित होने के कारण, अपने तीन सहस्र वर्ष की तपस्या के फल से हाथ धो बैठे!

इस आख्यायिका के पढ़ने से पाठक समझ गये होंगे कि मानसिक ब्रह्मचर्य ही प्रधान ब्रह्मचर्य है। जब ब्रह्माजी जैसे दिव्य पुरुष को मानसिक ब्रह्मचर्य के छोड़ने से पतित होना पड़ा, तो फिर हमलोग तो साधारण जीव हैं। अतः मानसिक ब्रह्मचर्य का भली भाँति पालन करने वाला ही सच्चा ब्रह्मचारी है।

हम ने जहाँ तक कथा-पुराणों में देखा है, सर्वत्र ही इस मानसिक ब्रह्मचर्य को कायिक और वाचिक का मूल माना गया है।

४—ब्रह्मचर्य से विद्याध्ययन

"विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

(मुण्डकोपनिषत्)

विद्या के प्रभाव से परमानन्द मिलता है।

ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यया ब्रह्मलोकम्।

(अथर्व-संहिता)

वीर्य-रक्षा के द्वारा ही विद्या प्राप्त होती है और विद्या के मिलने से ही मनुष्य ब्रह्मलोक का सुख पाता है।

ऊपर के मन्त्र में यह बात कही गई है कि ब्रह्मचर्य ही विद्या का मूल है। बिना ब्रह्मचर्य के विद्या की उपलब्धि नहीं हो सकती, जो वास्तव में सत्य है।

ब्रह्मचर्य और विद्या में वृक्ष और शाखा के समान सम्बन्ध है। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही विद्या के अध्ययन करने का नियम प्रचलित किया गया था। ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य की अवस्था में ही वेद-वेदाङ्गो का अभ्यास कर लेते थे। और जब तक विद्या प्राप्त नहीं हो जाती थी, गृहस्थाश्रम में पैर नहीं धरते थे।

जो विद्या ब्रह्मचर्य के द्वारा गृहीत होती है, वह कभी स्खलित नहीं होती! वीर्य के प्रभाव से ज्ञान के गूढ़ तत्वों का शीघ्र ही हृदयङ्गम हो जाता है। विद्यार्थी की धारणा-शक्ति सदा जागृत और तीव्र रहती है, जिससे कि वह थोड़े ही अभ्यास से विशेष लाभान्वित होता है। जो लोग ब्रह्मचर्ययुक्त विद्याध्ययन करते

हैं, वे ही उच्च तथा यशस्वी विद्वान् बन सकते हैं और उन्हीं की विद्या में वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, तथा गणित सम्बन्धी नवीन-नवीन आविष्कार करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

"विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्।"

(महात्मा विदुर)

विद्याध्यन करने के ही लिये ब्रह्मचारी बनना चाहिये। इसी सिद्धान्त को लेकर बहुत से विद्यार्थी आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

अब हम पाठकों को ब्रह्मचर्य से विद्या के अध्ययन में क्यों सफलता मिलती है ? इस सम्बन्ध की एक रोचक आख्यायिका सुनाते हैं:—

एक दिन देवर्षि नारद अमरावती में इन्द्र के पास उनसे मिलने गये। वहाँ वे उन से मिल कर बड़े प्रसन्न हुये। इन्द्र को किसी स्थान की, वेद की कई ऋचायें भूल गई थीं। अंतः उन्होंने चतुरता से पूछा कि अमुक स्थान की ऋचा कैसे है ? इस पर नारद जी ने सस्वर उन मन्त्रों का पाठ कर सुनाया। तब इन्द्र को आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा कि अब रहने दीजिये, काम हो गया। मैं तो आपकी परीक्षा ले रहा था। यह बात सुन कर, नारद जी अत्यन्त रुष्ट हुए और उन्होंने कहा कि तुम्हे एक ब्रह्मचारी की परीक्षा करने में लज्जा नहीं आई ! भला ब्रह्मचारी की विद्या कभी तुम्हारी तरह नष्ट हो सकती है। मुझ से कहीं की भी ऋचा पूछ सकते हो ! यदि फिर कभी ऐसा दुस्साहस कर, किसी ब्रह्मचारी की परीक्षा करोगे, तो अवश्य ही

इन्द्रासन से पतित हो जाओगे। इस बात से इन्द्र भय के मारे काँपने लगे और बड़ी प्रार्थना कर क्षमा माँगी और नारद जी वहाँ से चले गये।

५—ब्रह्मचर्य से शक्ति-साधन

"बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षम्।"
"वीर्यमेव बलम्"—"बलमेव वीर्यम्।"

(उपनिषत्)

बल से ही पृथ्वी ठहरती है और बल से ही अन्तरिक्ष भी ठहरा हुआ है। वीर्य ही बल है। और बल का नाम ही वीर्य है।

उपनिषदों में बल और वीर्य का एक साथ वर्णन कर, दोनों में कैसी अच्छी समता दरसाई गई है!

वास्तव में ब्रह्मचर्य ही संसार की समस्त शक्तियों का केन्द्र है। आज तक संसार में जितने बड़े-बड़े योद्धा और बलवान हो गये हैं—जितने शूर-वीर पराक्रमी हो गये हैं और जितने विजेता और रण-कौशल जानने वाले हुये हैं, सब को ब्रह्मचर्य का आश्रम लेना पड़ा है। बिना वीर्य की रक्षा के शारीरिक तथा मानसिक बल किसी को नहीं प्राप्त हो सकता। जो योद्धा ब्रह्मचर्य का नाश कर देता है, वह युद्ध-क्षेत्र में जाकर, कभी जय नहीं पा सकता!

प्राचीन समय में क्षत्रिय-कुमारों को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। जब तक वे युद्ध-विद्या में निपुण और शारीरिक बल में पराक्रमी नहीं हो जाते थे, उन्हें वीर्य-रक्षा करनी

पड़ती थी। युद्ध में अनेक योद्धाओं और वीरों को नीचा दिखलाने पर ही उनका स्वयंवर विवाह होता था।

जो पुरुष वल का अर्जन करना चाहे, उसके लिये ब्रह्मचर्य ही एक मात्र सञ्जीवनी-वटी है। विना वीर्य के शक्ति स्थिर नहीं हो सकती।

अव हम अपने पाठकों को ब्रह्मचर्य से शक्ति-साधन करने वाले महाभारत के एक महावीर की कथा सुनाते हैं:—

महाभारत के भीष्म पिता को आज भी हिन्दू-जाति नहीं भूली है। उनसे वढ़ कर वीर-पराक्रमी कदाचित ही कोई रहा हो। उन्होंने अपने पिता के लिये ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी। इस व्रत के पालन से उनका शरीर वज्र के समान हो गया था। वीर्य-रक्षा के कारण ही वे युद्ध में कभी भी पराजित नहीं हुये। उनका सारा जीवन वल की ही उपासना में व्यतीत हुआ। वृद्ध होने पर भी महाभारत के महायुद्ध में ९ दिन तक पाण्डव-सेना के वड़े-वड़े महारथी, शूर-वीर तथा नाना शास्त्र चलाने वाले निपुण लोगों के दाँत खट्टे करते रहे। विपक्षियों के दल में त्राहि! त्राहि! का शव्द होने लगा। वीरवर अर्जुन और नीतिज्ञ श्रीकृष्ण की भी वुद्धि चक्कर खाने लगी। पितामह को यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य द्वारा! जो कि उन्हें अत्यन्त प्रिय था, और जिस के लिये उन्होंने सांसारिक समस्त सुखों को तिलाञ्जलि दे दी थी।

ब्रह्मचर्य से सम्पत्ति-सेवा

"नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति ।"

(ऐतरेय-ब्राह्मण)

— बिना पुरुषार्थ के धन नहीं मिलता ! लक्ष्मी पुरुषार्थ के वश में सदा रहती है ।

"धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य मूल मुत्तमम् ।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम साधन आरोग्य ही है। एक आरोग्य के अधीन सब कुछ है ।

ब्रह्मचर्य से ही प्रचुर धन प्राप्त किया जा सकता है। व्यभिचारी पुरुष का धन नष्ट हो जाता है । ब्रह्मचारी अपने नियम का बड़ा दृढ़ होता है । वह अपने संयम-बल से सम्पत्ति एकत्र करता है । उसमें सतत परिश्रम का अभ्यास होता है । जो लोग ब्रह्मचर्य का नाश कर देते हैं, वे सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकते । बड़े-बड़े धनी जब तक ब्रह्मचर्य-रत रहे हैं, तब तक उनकी उन्नति होती गई है । लक्ष्मी सदा ब्रह्मचारी तथा उद्योगी की ओर रहती है । यदि धनवान् बनना हो और अपने सञ्चित धन को सुरक्षित करना हो, तो वीर्य-रक्षा पर पूर्ण ध्यान दो !

ब्रह्मचर्य अनेक प्रकार की सेवाओं का भी मूल कारण है । देश, जाति, समाज, राज्य और आत्म-सेवायें बिना ब्रह्मचर्य के निभ नहीं सकतीं । सेवाओं का आधार आरोग्य है । शरीर के स्वस्थ रहने पर ही मनुष्य सेवा में सब प्रकार से लग सकता है । वह स्वास्थ्य वीर्य-संरक्षण के अधिकार में है । ब्रह्मचारी पुरुष औरों की अपेक्षा बहुत कार्य कर सकता है । आज तक जितने

प्रकार के सेवक हुए हैं, सबको इस अमूल्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करनी पड़ी है। धर्म-सेवक, देश-सेवक, जाति-सेवक तथा राज्य-सेवक—सब ब्रह्मचर्य की शरण में रह कर ही अपने मनोरथ सफली-भूत कर सके हैं। इसलिये जो सेवा-कार्य करना चाहे, वह इस ब्रह्मचर्य-बल को अवश्य प्राप्त करे।

७—ब्रह्मचर्य से अपूर्व मेधा

"मेधा देवैस्सर्वै रुपास्या।"

(श्रुति)

मेधा वह शक्ति है, जिसकी सभी विद्वान् लोग उपासना करते हैं।

"मेधा दिव्या वरा शक्ति, ब्रह्मचर्येण गृह्यते।"

मेधा वह पवित्र और श्रेष्ठ शक्ति है, जो वीर्य-रक्षण के द्वारा ग्रहण की जाती है।

मेधा वास्तव में ईश्वरीय-शक्ति है। इसके बिना सब व्यर्थ है। प्राचीन समय में हमारे पूर्वज आर्य लोग, इसकी बड़े परिश्रम से उपासना करते थे। इसके लिये देवताओं से वर प्राप्त करते थे। इसके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देते थे।

इस मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क सब से श्रेष्ठ स्थान माना गया है। वह मेधा-शक्ति इसी विहार-क्षेत्र में विचरण करती है। ब्रह्मचारी पुरुषों की मेधा अत्यन्त तीव्र होती है। उनके मस्तिष्क में सदैव उन्नत विचार-प्रवाह प्रवाहित होता रहता है।

वीर्य-रक्षा से मस्तिष्क बहुत प्रबल हो जाता है। निर्बल मस्तिष्क की अपेक्षा बलवान् मस्तिष्क अधिक कार्य कर सकता है। यह बात बहुत ही सत्य है कि उत्तम मस्तिष्क में ही उत्तम मेधा रह सकती है। जो पुरुष अपने वीर्य को सुरक्षित रखता है, उसी का मस्तिष्क बलिष्ठ और मेधा तीव्र हो सकती है।

यह बात हम बहुत से ग्रन्थों में देखते हैं कि हमारे ऋषि-मुनि बड़े मेधावी और विद्वान् होते थे। बड़े से बड़े ग्रन्थ को एक बार सुन कर ही स्मरण रखते थे। उनके पास नाना विद्यायें और कलायें थीं। गुरु लोग अपने विद्यार्थियों को गूढ़ से गूढ़ ज्ञान की शिक्षायें देते थे और वे बिना परिश्रम के उनके वाक्य तक कण्ठस्थ कर रखते थे। बहुत से लोग बहुश्रुत होते थे। उनका यही काम था कि वेदों तथा शास्त्रों को सुनकर ही पण्डित हो जाते थे। उन्हें पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। इसीलिये वे बहुश्रुत कहे जाते थे और लोग उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे।

ऊपर की बातों को जान कर यह प्रश्न मन में उठता है कि उनको क्या ऐसी विलक्षण शक्ति प्राप्त थी, जिससे कि वे ऐसा कर सकते थे ? (आजकल की तो यह दशा है कि सौ बार का रटा हुआ एक श्लोक भी भूल जाता है। उन्हें दिव्य मेधा-शक्ति प्राप्त थी ! यह मेधा-शक्ति उन्हें मिलती कहाँ से थी ? उनके ब्रह्मचर्य के प्रताप से।) वे लोग ब्रह्मचर्य का इसीलिये पालन करते थे कि उनकी मेधा इतनी तीव्र हो, जिससे कि जिस विद्या का वे अध्ययन करें, वह स्थायी रूप से बनी रहे। इस विषय में एक आख्यायिका नीचे दी जाती है:—

केसरी-कुमार हनूमान का नाम जगत्प्रसिद्ध है। वे बाल-

ब्रह्मचारी थे। एक दिन वे सूर्य नारायण के पास वेद पढ़ने के लिये गये। उन्होंने उनसे वेद पढ़ने की प्रार्थना की। इस पर उन्होंने हनूमान से कहा कि हमें पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं, पर मैं जो कुछ कहूँगा, एक ही बार, कदाचित् तुम उसे ग्रहण न कर सको। फिर तुम्हें हमारे रथ के साथ उलटा चलना होगा। यह बात हनूमान ने मान ली और सूर्य भगवान के तीव्र घोड़ों के रथ के आगे उलटे पाँव विद्या पढ़ते हुए अस्ताचल तक गये। फिर सूर्य ने उनसे सुनाने को कहा। उन्होंने सस्वर जो कुछ पढ़ा था, कह सुनाया। सूर्य ने उनकी अपूर्व मेधा की बड़ी प्रशंसा की और उनको आशीर्वाद देकर विदा किया।

८—ब्रह्मचर्य से दीर्घायु

"दीर्घायुर्ब्रह्मचर्यया।"

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन करने से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त होती है।

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं,
स देवेषु कृणुते दीर्घ मायुः,
स मानुषेषु कृणुते दीर्घमायुः।

(यजुर्वेद)

जो अपने शरीर में अनुपम वीर्य को रक्षित रखता है, वह विद्वानों में दीर्घायु प्राप्त करता है—वह साधारण लोगों में भी दीर्घजीवी होता है।

अपने में वीर्य भरने वाला पुरुष, ज्ञानी हो या अल्पज्ञ, उसे दोनों अवस्थाओं में दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

न तद्रक्षांसि पिशाचाश्चरन्ति,
देवाना मोजः प्रथमजं ह्येतत्।

(यजुर्वेद)

जो पुरुष वीर्य की रक्षा करता है। उसे राक्षस और पिशाच नहीं सताते। यह वीर्य विद्वान् लोगों का आत्मतेज या दिव्य गुणों का सारांश है। यह उन में प्रथमतः उत्पन्न होता है।

'राक्षस' नाम है पापी का और 'पिशाच' दुष्ट को कहते हैं। एक ब्रह्मचारी पुरुष को पापी और दुष्ट का कुछ भी भय नहीं रहता। वे इसके प्रभाव से स्वयं भयभीत रहते हैं और किसी प्रकार का कष्ट नहीं दे सकते। वीर्य की रक्षा करने वाले से, पापी और दुष्ट का, उसे नष्ट करने में, कुछ भी वश नहीं चलता।

यह बात सभी लोग जानते हैं कि 'राक्षस' और 'पिशाच' के लगने से मनुष्य का आयुर्बल क्षीण हो जाता है। इसीलिये लोग उनसे बचने का उद्योग करते हैं। पापी और दुष्ट पुरुष भी मनुष्य के आचरण को भ्रष्ट कर देते हैं। इनके सम्पर्क से आयुर्बल का ह्रास होता है। जो लोग सच्चे वीर्य-रक्षक हैं, वे इनसे बचे रहते हैं।

व्यभिचार से मनुष्य का आयुर्बल क्षीण हो जाता है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन समय में एक भी व्यभिचारी पुरुष दीर्घजीवी होता नहीं देखा गया। इतिहास में दीर्घजीवी पुरुषों के जीवन-चरित के पढ़ने से यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो चुकी है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही उनको दीर्घजीवन प्राप्त हुआ था।

दीर्घजीवन का मूल कारण वीर्य-रक्षण है। जिसका जितना ही पुष्ट वीर्य है, वह उतना ही अधिक दिनों तक जीवित रह सकता है।

ब्रह्मचर्य में वीर्य-रक्षा प्रधान है। वीर्य के रक्षित होने पर ओज की वृद्धि होती है। ओज की बढ़ती के ही भीतर जीवनी-शक्ति है। इसी अद्भुत शक्ति से मनुष्य का शरीर सुदृढ़ और स्वस्थ रहता है। शरीर की सुदृढ़ता और स्वस्थता के ही ऊपर दीर्घायु अवलम्बित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। जो जितना दीर्घजीवी होना चाहता है, वह उतना ही वीर्य की रक्षा करे। वीर्य का व्यय ही जीवनी-शक्ति का प्रधान नाशक है।

कुछ लोगों का कहना है कि सतयुग, त्रेता और द्वापर में मनुष्य का आयुर्बल विशेष होता था, सो अब कलियुग के कारण कम हो गया है। इस बात को हम मानते हैं, पर इसके साथ यह भी था कि अन्य युगों में ब्रह्मचर्य का पालन भी विशेष रूप से किया जाता था, जो दिन पर दिन घटता ही गया और कलि-युग में नाम ही नाम रह गया। यदि इस समय भी ब्रह्मचर्य का विधिवत पालन हो, तो अब भी दीर्घजीवी पुरुष हो सकते हैं। यह कोई विचित्र बात नहीं! अब हम कुछ दीर्घजीवी पुरुषों के नाम और उनकी अवस्था की तालिका नीचे लिखते हैं। इस तालिका से पाठक स्वयं जान जायँगे कि ये पुरुष किस प्रकार के सत्पुरुष, धर्मनिष्ठ और सदाचारी थे:—

भीष्म पितामह १७०, महर्षिव्यास १५७, वसुदेव १५५,

भगवान् बुद्ध १४०, धृतराष्ट्र १३५, श्रीकृष्ण १२६, रामानन्द गिरि १२५, महात्मा कबीर १२०, युगराज लोहकार ११५, महाकवि भूषण १०२, स्वामी सच्चिदानन्द, १०० महाकवि मतिराम ९१, गोस्वामी तुलसीदास ९१, यतीन्द्रनाथ ठाकुर ८५ और भक्त वर सूरदास ८० वर्षों तक जीवित रहे।

८० से लेकर १०० वर्ष तक की अवस्था के इस समय भी कई पुण्यात्मा विद्यमान हैं। लेखक ने स्वयं कई ऐसे सौ वर्षों के पुरुषों को देखा है, जिनकी नेत्र-ज्योति, शारीरिक स्थिति और स्मरण-शक्ति उत्तम, दृढ़ तथा तीव्र थी। उनसे तथा उनके जानने वालों से पूछने पर यह बात जानी गई कि वे बाल-ब्रह्मचारी या नियमपूर्वक वीर्य-रक्षक थे।

श्रीमद्भागवत के अनुसार कलि-काल में भी मनुष्य के आयुर्बल का परिमाण १२० वर्षों का है। इससे पूर्व मरने वाले अकाल मृत्यु से मरते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत से हीन होने वाले ही लोग इस अकाल मृत्यु के ग्रास होते हैं। वीर्य का विधिवत् रक्षा करने वाला पुरुष ही अपने आयुर्बल का पूर्ण उपभोग कर सकता है।

अथर्ववेद में १०१ प्रकार की मृत्युयें (शरीर से आत्मा के पृथक् होने की आवश्यकतायें) मानी गई हैं। उनमें से १०० तो अकाल मृत्यु हैं। पूर्ण मृत्यु उनमें से १ ही है। इस अन्तिम मृत्यु से मरने वाला पुरुष ही भाग्यवान है और उसी की सद्गति होती है। जो लोग अकाल मृत्यु से मरते हैं, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं होते। इसलिये जो लोग अकाल मृत्यु से बचना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य का अवश्य पालन करना चाहिये!

—ब्रह्मचर्य से उत्साह-साहस

उत्साह और साहस के बिना संसार का एक काम भी सुचारु-रूप से सम्पादित नहीं हो सकता। इन दोनों का निवासस्थान हृदय है। जिसका हृदय जितना ही बलिष्ट है, वह पुरुष उतना ही उत्साही और साहसी हो सकता है। हृदय का बलवान होना ब्रह्मचर्य के अधीन है। जिसने वीर्य की रक्षा की है, उसमें उत्साह और साहस की छाया हम देख सकते हैं। वीर्य के बिना हृदय कभी पुष्ट नहीं हो सकता। यह बात प्रायः देखने में आती है कि व्यभिचारी पुरुष अनुत्साही और असाहसी होते हैं। अब पाठक समझ गये होंगे कि उत्साह और साहस का एक मात्र मूल वीर्य है—ब्रह्मचर्य का पालन है।

पवन-पुत्र हनूमान जानकी को खोजने के लिये समुद्र पार कर लङ्का में पहुँचे। वहाँ उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, पर जानकीजी का कुछ भी पता न चला। तब वे बहुत घबड़ाये और बैठ कर विचारने लगे कि यदि जानकी नहीं मिलीं, तो मैं जी नहीं सकता। मेरे मरने पर सुग्रीव भी मेरे शोक में मर जायँगे। इस प्रकार राम-लक्ष्मणादि सभी एक के शोक में दूसरे मर जायँगे। इन सब बातों के पश्चात् उनको अपने ब्रह्मचर्य का ध्यान हुआ और इस कारण से उनके हृदय में उत्साह का पुनः सञ्चार हो उठा। उन्होंने विचारा कि कठिन से कठिन कार्य उत्साह से सम्पादित हो सकता है। बाल्मीकि-रामायण में उन्होंने उत्साह की बड़ी प्रशंसा की है। अन्त में इसी उत्साह के कारण उन्होंने जानकी को खोज कर ही शान्ति ली।

भीष्म पितामह काशिराज की अम्बा, अम्बिका और अम्बा-

लिका नाम की तीन कन्यायें जीत कर ले लगे। अम्बिका और अम्बालिका का विवाह तो अपने दोनों छोटे भाई चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के साथ कर दिया, पर ब्रह्मचारी रहने के कारण अम्बा को लौटने की आज्ञा दी। इस पर अम्बा को दुःख हुआ। उसने महायोद्धा परशुराम के पास जाकर अपना कष्ट निवेदन किया। उन्होंने कहा कि हम तुम्हारे लिये भीष्म से युद्ध करेंगे। यदि वे हम से परास्त हो गये, तो तुम्हारा विवाह उनसे करा दिया जायगा। वे अम्बा को लेकर भीष्म के यहाँ आये और समझाया कि तुम इसके साथ विवाह करलो। पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। भीष्म ने यह बात कही कि यदि आप से युद्ध में हार गया तो विवाह कर लूँगा। दोनों में घोर युद्ध ठन गया। भीष्म के हृदय में ब्रह्मचर्य के कारण अटूट साहस था। उन्होंने उसीका स्मरण किया और उन्हें विश्वास हो गया कि मेरा पक्ष न्याय का है और मैं पराजित नहीं हो सकूँगा। अन्त में परशुराम जी हार कर चले गये।

अब इन दो कथाओं से उत्साह और साहस का परिचय पा गये होंगे। ब्रह्मचर्य के पालन करने वालों को ही ये दो दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यदि उत्साह-साहस से अपने को भूषित करना है—तो अपने वीर्य की भली भाँति रक्षा करनी चाहिये।

१०—ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य-रक्षा

"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्"

(वैद्यक)

हमारा शरीर ही सब धर्मों का प्रधान साधन है।

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"

(सूक्ति)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य (स्वास्थ्य) ही है।

अब हम वैद्यक मतानुसार स्वास्थ्य के लक्षण लिखते हैं। इन लक्षणों के विपरीत होने से अस्वस्थ या रोगी समझना चाहियेः—

समदोषः समाग्निश्च, समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

(महर्षि सुश्रुत)

जिस मनुष्य के तीनों दोष, (वात, कफ और पित्त) अग्नि (अन्न पचाने और भूख लगाने वाली शक्ति) धातु (रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, और वीर्य) मल और मूत्र आदि उचित अवस्था में हों—जिसके आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न तथा अपने अपने कार्यों में लगे हों, वह पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

स्वास्थ्य की परिभाषा हो चुकी। अब यह देखना है कि भारतवासियों में कितने लोग स्वस्थ हैं। हमारे विचार से एक भी नहीं, ऊपर के दिये गये लक्षण कदाचित् ही किसी भाग्यशाली पुरुष में घटते हों। किसी को वात-विकार, किसी में कफ का कोप, किसी में पित्त की विकृति, किसी की अग्नि बिगड़ी हुई, किसी के रसादि धातुओं में क्षीणता, किसी का मल दूषित और किसी के मूत्र अनियमित हो गया है। हमारे विचार से इन सब बुरे लक्षणों का एक मात्र कारण ब्रह्मचर्य का अभाव है। एक वीर्य-क्षय से अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे स्वास्थ्य का सर्वोत्तम साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी पुरुष ही उत्तम स्वास्थ्य का लाभ कर

सकता है। जो व्यभिचारी पुरुष हैं, उन्हें भान भी नहीं होता और उनके शरीर में धीरे-धीरे अस्वास्थ्यकर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, और फिर वे ही बढ़ते-बढ़ते नाश का कारण बनते हैं।

दिनचर्यां निशाचर्यां, ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः, सदा तिष्ठति नान्यथा॥

दिनचर्या, (प्रातःकाल से सायंकाल तक के नियमित कर्म) रात्रिचर्या (सायंकाल से लेकर प्रभात तक के कृत्य) और ऋतु-चर्या (छः ऋतुओं में आहार-विहार के नियम) का उचित रीति से पालन करने से ही मनुष्य सदा स्वस्थ रह सकता है। अन्यथा नहीं !

इन चर्याओं का यथाविधि पालन करना भी ब्रह्मचर्य है। जो ऊपर की तीनों चर्याओं का पालन कर अपने स्वास्थ्य को बिगड़ने नहीं देता, वह पुरुष वास्तव में ब्रह्मचारी है। इन चर्याओं को नियमित रूप से ही करने के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है। हमारे प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम में इन्हीं को संयमित और निष्ठित करने के लिये ब्रह्मचारियों को बहुत समय तक वहीं रहना पड़ता था। फिर वहाँ से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर, इन्हीं चर्याओं का पूर्ण अभ्यास किया जाता था।

अब पाठक समझ गये होंगे कि ब्रह्मचर्य और स्वास्थ्य का, कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ ब्रह्मचर्य नहीं, वहाँ स्वास्थ्य नहीं। जहाँ ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा की जाती है, वहाँ स्वास्थ्य के लिये रोना नहीं पड़ता।

११—ब्रह्मचर्य से सुसन्तान

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान्न धार्मिकः।

(नीति)

उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ, जो कि न तो विद्वान् है और न धार्मिक हो ?

सबके मन में यही अभिलाषा रहती है कि सन्तान हो, जिससे कि हमारी वंश-वृद्धि हो। वह अच्छी भी हो, जिससे कि हमारा संसार में यश फैले। यह बात बुरी नहीं है। पर बहुत थोड़े लोग हैं, जो नियम-पूर्वक सन्तान उत्पन्न कर सकते हों। कितने लोग ऐसे हैं जो मर जाते हैं, पर उन्हें पुत्र-पुत्रियों के मुख-दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। कुछ के बच्चे ही बच्चे होते रहते हैं, पर वे जीते नहीं। कुछ के कुछ दिन और वर्षों के लिये होते हैं। कुछ के कुछ दिन जीते भी हैं, तो महा मूर्ख और अनेक दोषों से पूरित।

अब हम अपने मन से पूछते हैं कि इन सब दोषों का क्या कारण है ? तो हमें यही उत्तर मिलता है कि ब्रह्मचर्य का पालन न होना। जब से हमारे देश में ब्रह्मचर्य-प्रणाली उठ गई, तब से हममें इन दोषों का सञ्चार हुआ है। इससे पहले कभी ऐसी अवस्था नहीं थी। हमारे ऋषि-मुनि मनोवाञ्छित सन्तान उत्पन्न करते थे। वे सन्तान की इच्छा से ही मैथुन में प्रवृत्त होते थे। वीर्य-रक्षण के प्रताप से वह शक्ति उनको प्राप्त थी कि वे कभी भी निष्फल नहीं होते थे। उनकी सन्तान भी उत्तम आचार-विचार

वाली होती थी। इतना ही नहीं, वह स्वस्थ और दीर्घायु भी प्राप्त करती थी। पिता-माता के ही संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसलिये उनके गुणावगुणों का उस पर प्रभाव पड़ना स्वभाविक ही है। इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका है:—

पितामह ब्रह्मा ने चार पुत्र उत्पन्न किये। उनसे उन्होंने प्रजा की सृष्टि करने को कहा। पर वे अस्वीकार कर गये। इसका कारण यह था कि ब्रह्मा ने सात्विक वृत्ति से उनको उत्पन्न किया था। इसलिये वे ब्रह्मचारी और सतोगुणी हो गये। फिर ब्रह्मा ने और सात पुत्र उत्पन्न किये। वे राजस वृत्ति से उत्पन्न किये जाने के कारण, रजोगुणी और प्रवृत्ति-परायण हुए। उन्होंने प्रजा की सृष्टि की।

अब पाठक ऊपर की आख्यायिका के पढ़ने से समझ गये होंगे कि जैसी जिसकी मानसिक वृत्ति रहती है, वैसी ही उसकी सन्तान होती है। यदि हम ब्रह्मचारी हैं, तो हमारी सन्तान भी ब्रह्मचर्य-रत होगी। व्यभिचारी पुरुष की सन्तान कभी अच्छी नहीं हो सकती। जब तक देश में ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन नहीं किया जाता, तब तक सुसन्तान के लिये शताब्दियों तक झीखना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य-पूर्वक गर्भाधान करने वाले कश्चित् दो चार पुरुष हों! जो मैथुन सुसन्तान के लिये पुण्य-कार्य समझा जाता था, वह अब अज्ञानी पुरुषों की कृपा से व्यभिचार का अङ्ग बन गया। यह बड़े परिताप की बात है!

यदि मनोऽनुकूल बालक उत्पन्न करना है—यदि सन्तान को उत्तम और सद्गुणी बनाना है—यदि उन्हें दीर्घजीवन-प्रदान

करना चाहते हो, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य का समुचित पालन किया जाय।

१२—ब्रह्मचर्य से रोग-शान्ति

जात मात्रं नयः शत्रुं, व्याधिञ्च प्रशमन्नयेत्।
अति पुष्टाङ्ग युक्तोऽपि, सपश्चात्तेन हन्यते॥

(सूक्ति)

शत्रु और व्याधि को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना योग्य है। क्योंकि इनके बढ़ जाने पर, अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट पुरुष भी इन के द्वारा मारा जाता है।

इस देश में स्वस्थ पुरुषों और स्त्रियों की संख्या अँगुलियों पर गिनने योग्य हो गई है। अनेक लोग अपने आरोग्य के लिये विविध यत्न करते रहते हैं, फिर भी वे अस्वस्थ ही रहा करते हैं। जनता में निस्तेज और निर्बल शरीर वाले मनुष्यों को देख कर एक बार हृदय थाम कर रह जाना पड़ता है। इस रोग-ग्रस्तता का कारण यही है कि लोग ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट होकर अपना जीवन बिता रहे हैं, इसी से वे प्रायः रोगी देखे जाते हैं। व्यभिचार और इन्द्रिय-लोलुपता बहुत बढ़ी जा रही है। ब्रह्मचर्य किस पक्षी का नाम है, इसका ध्यान ही नहीं है। हम बल-पूर्वक यह बात कहते हैं कि एक पुरुष, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, उसे रोग नहीं उत्पन्न हो सकता। जिसने, अपने वीर्य का महत्व न समझ कर, उसको अनियमित प्रकार से अपने शरीर से अलग किया

है, वह रोग से बँच भी नहीं सकता! प्रायः दुराचारी पुरुषों को ही भयङ्कर रोगों का आखेट होना पड़ता है।

प्राचीन समय में लोगों को प्रायः रोग होते ही नहीं थे। जिसे रोग होता था, वह पापी और नीच समझा जाता था। वह अपने को धर्माचरण और सदाचार से युक्त करता था।

आज कल लोग वैद्यक-शास्त्र के हितोपदेशों की अवहेलना करने लग गये हैं। ब्रह्मचर्य-युक्त आहार-विहार को छोड़ कर प्रकृति के विरुद्ध चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे कभी सुखी नहीं रहते। उनके साथ-साथ एक न एक रोग बराबर चलाता रहता है। नाना प्रकार की औषधियाँ खाते रहते हैं, पर अपने दुष्कर्म को छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोग कभी आरोग्य-लाभ नहीं कर सकते। हमारे विचार से ब्रह्मचर्य सब औषधियों का पितामह है। जो पुरुष इसका विधिवत् सेवन करता है, वह कभी रोगी नहीं रह सकता। अमृत-तुल्य औषधोपचार करते रहने पर भी, ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाला पुरुष, रोग-रहित नहीं हो सकता। किसी रोग को मूल से नाश करना हो, तो उससे छुटकारा पाने तक, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

एक बड़े अनुभवी वैद्य थे। उनका कहना था कि १ वर्ष नियमित ब्रह्मचर्य के पालन से भयङ्कर रोग नष्ट हो सकता है। स चिकित्सा का उन्होंने कई रोगियों पर प्रयोग किया और वे सफल निकले। तब से वे उसीकी चिकित्सा करते थे, जो उनके आज्ञानुसार वीर्य-रक्षा कर सकता था। वे नाड़ी से वीर्य-नाशक पुरुष को जान लेते थे, और फिर उसको औषधि नहीं देते थे।

अब ऊपर की बात से पाठक जान गये होंगे कि ब्रह्मचर्य कैसी वस्तु है? इसके पालन से कठिन से कठिन रोगों का संहार किया जा सकता है।

१३—ब्रह्मचर्य से ब्रह्मज्ञान

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधि गच्छति।"

(योगेश्वर कृष्ण)

ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य बहुत शीघ्र ही परमानन्द का अधिकारी होता है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"

(शंकराचार्य)

ब्रह्मज्ञान के विना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती।

हमारे ऋषियों ने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये अनेक मार्ग निश्चित किये हैं। उन पर चल कर शीघ्र ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्मज्ञान के प्राप्त हो जाने पर, सब कुछ सुलभ हो जाता है। इस ज्ञान के लिये ही चार आश्रमों का विधान किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र-विरोचन-संवाद है। उसमें ब्रह्मचर्य से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का समर्थन किया गया है। पितामह ब्रह्मा ने उन दोनों को ३२ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने की शिक्षा दी है।

"ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मान मनुविन्दते।"

ब्रह्मचर्य के पालन करने से निश्चय पूर्वक यह इच्छित आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में एक बड़ा ही रोचक तथा सार गर्भित कथानक आया है। हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं:—

कबन्धी और कात्यायन नाम के दो ऋषिकुमार थे। वे दोनों ब्रह्मचारी थे। एक दिन वे दोनों ही ऋषिवर पिप्पलाद के आश्रम में गये, और उनसे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिये निवेदन किया।

तान् ह स ऋषिरुवाच—भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्वत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामान् प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः।

पिप्पलाद ने उन दोनों से कहा कि तुम दोनों एक वर्ष तक हमारे पास रह कर नियमानुसार श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करो। तत्पश्चात् जो प्रश्न चाहोगे, पूछ लेना। हम भी जो कुछ ज्ञान होगा, तुम लोगों को यथाशक्ति समझावेंगे।

ऊपर के उदाहरण से यह बात जानी जाती है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकारी ब्रह्मचारी ही पुरुष हो सकता है। पिप्पलाद जानते थे कि ये ऋषिकुमार ब्रह्मचारी हैं, पर ब्रह्मज्ञान के लिये उन्होंने उन दोनों से एक वर्ष तक विशेष रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करवाया। उन्होंने समझा कि ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्मज्ञान का अनुभव नहीं किया जा सकता।

अब पाठक समझ गये होंगे कि ब्रह्मज्ञान जैसे सद्विषय की योग्यता प्राप्त करने के लिये, ब्रह्मचारी रहना, कितना आवश्यक है? जो पुरुष ब्रह्मज्ञान का लाभ करना चाहे, वह ब्रह्मचर्य का निश्चय रूप से पालन करे!

१४—ब्रह्मचर्य से मुक्ति-ब्रह्मत्व

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गं नैव च नैव च।"

(सूक्ति)

पुत्र-रहित पुरुष की मुक्ति नहीं होती। उसके लिये स्वर्ग का मिलना तो अत्यन्त असम्भव बात है।

"स्वर्गं गच्छन्ति ते सर्वे, ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।"

(सूक्ति)

संसार में जितने ब्रह्मचारी पुरुष हैं, वे सब स्वर्ग में जाते हैं।

ऊपर के दोनों वचन शास्त्रीय हैं। पहले वचन का दूसरा अपवाद स्वरूप है। एक तो पुत्र के बिना मुक्तिही नहीं बतलाता, पर दूसरा कहता है कि बिना पुत्र के स्वर्ग तक मिल सकता है। जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे निर्विघ्न स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

यह बात है भी बहुत सत्य! प्राचीन समय में बालखिल्व, नचिकेता, हनूमान तथा भीष्म आदि अनेक ब्रह्मचारियों ने पुत्र उत्पन्न नहीं किया, पर वे मुक्त हो गये। ऐसा क्यों? क्योंकि उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

केवल पुत्र उत्पन्न करने से ही कोई पुरुष मोक्ष या स्वर्ग का अधिकारी नहीं बन बैठता। पुत्र के योग्य होने पर ही ऐसा हो सकता है। यदि पुत्र अयोग्य हुआ, तो अपने पितरों को नरक-गामी बना के ही छोड़ता है। सुयोग्य पुत्र के उत्पन्न होने से ही मनुष्य तीन ऋणों—ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण) से मुक्त

होता है। यही उसकी सच्ची मुक्ति है। सुयोग्य पुत्र विना ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन किये, किसी को किसी प्रकार, प्राप्त नहीं हो सकता। व्यभिचारी का शुक्र-सम्भूत पुत्र, सुयोग्य नहीं हो सकता।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले पुरुषों का पुत्र उत्पन्न करने की शास्त्रों में आज्ञा नहीं है। वे मनसा, वाचा तथा कर्मणा संसार की सेवा करते हैं। उनकी शिक्षाओं तथा उद्योग से अनेक बालक सज्जन और सदाचारी बनकर, अपने कुटुम्ब को यशस्वी बनाते हैं। उनके प्रताप से बहुत से विद्यार्थी अपना जीवन-सुधार कर पितरों को नरक में पड़ने से मुक्त करते हैं। फिर ऐसे पुरुष, जिनके कारण से, अन्य लोग स्वर्ग के अधिकारी बन जाते हैं, वे क्यों न मुक्ति प्राप्त करें!

सुना जाता है कि पारस प्रस्तर के स्पर्श से लोह भी सुवर्ण हो जाता है। अखण्ड ब्रह्मचारी भी उसी पारस के समान है; जिसके संसर्ग से अबोध बालक भी सुवर्ण के समान गुणवान और मूल्यवान बन जाता है। लोहे को सोना बनने की आवश्यकता होती है, पारस को नहीं! जो मुक्त नहीं है, उसे ही मुक्ति की आवश्यकता होती है, ब्रह्मचारी को नहीं। वह तो स्वयं मुक्त है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि ब्रह्मचर्य मुक्ति और स्वर्ग का भी एक मात्र साधन है। जब तक ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं होता, तब तक मुक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती।

मुक्ति तो ब्रह्मचारी पुरुष की दासी बनी रहती है। वे इसकी चिन्ता ही नहीं करते। उनके लिये यह तुच्छ है!

मुक्ति से बढ़कर ईशत्व माना गया है। मुक्तों को भी ईशत्व की लालसा लगी रहती है। अनेक योगीजन जिसके लिये आजी-

वन तपस्या करते हैं, यदि उनकी साधना पूरी हुई, तो इस पद के अधिकारी होते हैं। इस ब्रह्म-पद का प्राप्त करना परम कठिन है। केनोपनिषद् में लिखा है:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति नवाग्गच्छति न मनो न विद्मः।

न तो वहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, न वाणी जा सकती है और न मन ही पहुँच सकता है। हम उसे जानते भी नहीं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति॥
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्तेपदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(कठोपनिषत्)

सब वेद जिस पद का चिन्तन करते हैं। सब तप भी जिसको बताते हैं और जिसके चाहने वाले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उस पद को संक्षेप में कहते हैं।

ईश्वत्व-प्राप्ति के लिये वेद, तप और ब्रह्मचर्य, ये तीन साधन हैं। वेद और तप दोनों ब्रह्मचर्य के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये ब्रह्मचर्य को ही प्रधानता है। एक ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत वेद और तप दोनों की साधनायें विद्यमान हैं। बड़े-बड़े वेदाध्यायी और भारी-भारी तपस्वी ब्रह्मचर्य से पतित होते ही अपने पद से च्युत हो जाते हैं। अतएव ईशत्व प्राप्त करने के लिये भी ब्रह्मचर्य सब से बड़ा साधन है। बिना ब्रह्मचर्य के ब्रह्मपद दुष्प्राप्य ही नहीं, अपितु नितान्त असम्भव है!

अब पाठक समझ गये होंगे कि ईशत्व-प्राप्ति के लिये भी ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। जिसके पालन से ईशत्व

जैसे परम पद का लाभ हो सकता है, उसकी महिमा किससे गाई जा सकती है ?

१५—सृष्टि के आदि में ब्रह्मचर्य

पाठकों के मन में यह शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि क्या सृष्टि के प्रारम्भ में भी ब्रह्मचर्य की मर्यादा स्थिर थी ? इसका समाधान हम श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के कथानक से करेंगे। वह इस प्रकार है:—

सनकञ्च सनन्दञ्च, सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारञ्च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥

पितामह ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना के विचार से सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नाम के मुनि-वृत्तिधारी ब्रह्मचारी चार पुत्रों को उत्पन्न किया।

तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान्प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
ते नैच्छन् मोक्ष-धर्माणो, वासुदेव-परायणाः॥

ब्रह्मा ने उन पुत्रों से कहा कि पुत्रो ! तुम लोग प्रजा की सृष्टि करो ! पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। क्यों कि वे ब्रह्मचारी और परमात्मा के भक्त थे।

उन पुत्रों ने प्रजा उत्पन्न करने से अस्वीकार क्यों किया ? इसका कारण यह था कि वे सात्विक पुरुष थे; उन्होंने इस ब्रह्मचर्य की महत्ता दिखलाने के लिये ऐसा सत्कार्य किया।

प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य मुषुर्देवा मनुष्या असुरा। उषित्व ब्रह्मचर्यं देवाऊचुः ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैत मत्तर मुवाच द इति ॥

(शतपथ ब्राह्मण)

सृष्टि-रचना के अनन्तर पितामह ब्रह्मा के पास देव, मनुष्य और असुर ब्रह्मचर्य का पालन करके, क्रमशः पहुँचे। ब्रह्मचर्य का पालन करके देव लोग बोले कि पितामह ! हमें अब क्या आज्ञा होती है ? इस पर पितामह ने उन्हें 'द' अक्षर का उपदेश किया। मनुष्यों और असुरों को एक एक कर पास आने पर भी, इसी अक्षर का उपदेश दिया।

सात्विक, राजस और तामस गुण-प्रधान—तीन प्रकार की सृष्टि हुई। सात्विक पुरुष 'देव' राजस 'मनुष्य' और तामस 'असुर' कहलाये। जो ब्रह्मचर्य का उत्तम पालन करते थे, देव माने गये, जो ब्रह्मचर्य का पालन भी करते थे और यथासमय सृष्टि करते थे, वे मनुष्य कहे गये, और जो इन्द्रिय-लोलुप, मदिरा-मांस-भक्षी तथा व्यभिचारी थे, वे असुर कहलाते थे। ब्रह्माजी ने त्रिविध प्रजा को ब्रह्मचर्य-पूर्वक रह कर, इन्द्रिय-दमन, दान और दया का 'द' अक्षर कह कर उपदेश दिया।

अब पाठक भली भाँति ब्रह्मचर्य की सृष्टि-कालीन-महत्ता और प्राचीनता के विषय में सन्तुष्ट हो गये होंगे।

१६—ब्रह्मचर्य का वायुमण्डल

पाठक गण, इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में अथर्ववेदीय ब्रह्मचर्य-सूक्त को, पढ़ ही चुके होंगे। आर्य-साहित्य में कहीं भी, ब्रह्मचर्य

का इतना भावमय और व्यापक वर्णन खोजे से नहीं मिल सकता। यह सूक्त वैदिक सभ्यता के सर्वोच्चयुग का परिचायक है। इसमें विद्यार्थी, आचार्य, देव, राजा, प्रजाजन, कन्या, पशु-पक्षी-मृग, समय, दिशा, ऋतु, रात-दिन, सम्वत्, मेघ, ओषधि और वनस्पतियाँ—सब में ब्रह्मचर्य की उद्भावना की गई है। यहाँ तक कि पृथ्वी से लेकर आकाश तक के सभी जीवों को ब्रह्मचारी कहा गया है। इस प्रकार एक आदर्श ब्रह्मचर्य के वायुमण्डल का रूप खड़ा कर दिया गया है। इस प्रकार के वर्णन से हमें दो अभिप्राय सूचित होते हैं। वे ये हैं:—

(१) यह सारी सृष्टि ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से चल रही है। जिस क्षण में, उसके ब्रह्मचर्य का नाश होगा, वह भी नष्ट हो जायगी। अर्थात् ब्रह्मचर्य ही अस्तित्व है।

(२) और जब यह बात है, तब तो मनुष्य का एक प्रकार से कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ब्रह्मचर्य-पालन से अपनी जाति के अस्तित्व की रक्षा करे! यही ईश्वरीय आज्ञा भी है।

यही एक प्रधान कारण था कि मनुष्य-जाति के कल्याण के लिये ऋषि-मुनि जन्म भर ब्रह्मचर्य-तपस्या करते थे। नितान्त आवश्यकता होने पर ही प्रजा की सृष्टि करते रहे। प्रयाग, हरद्वार तथा नैमिषारण्य जैसे तीर्थ-स्थानों पर ८८००० जन-संख्या की बृहत् धर्म-सभा में सदाचार और ब्रह्मचर्य पर विचार करते थे। 'ब्रह्मचर्य-रक्षा' के लिये ही नाना प्रकार की कथा-वार्त्ता, ज्ञान-चर्चा और धर्म-शिक्षा होती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे ऋषि-मुनि इस तत्व को भली भाँति जानते थे। और उनका भी उद्देश्य देश में ब्रह्मचर्य का वायुमण्डल बनाना था। क्योंकि यह—उनकी

दृष्टि में सर्वोच्च धर्म था। और इसी के लिये प्राणपण से विविध सदुपायों से उद्योग करते थे।

१७—ब्रह्मचर्य पर प्राचीन मत

इस खण्ड का यह अन्तिम लेख है। इसमें हमें जहाँ तक, अब तक ब्रह्मचर्य पर प्राचीन ग्रंथों में प्रमाण मिल सके हैं, उन्हें देते हैं, इन पर ध्यान देने से विशेष कल्याण की सम्भावना है—

"मनुष्य बिना ब्रह्मचर्य धारण किये हुये, कदापि पूर्ण आयु वाले नहीं हो सकते।"

(भगवान् ऋग्वेद)

"चारो आश्रमों के यथावत् पूर्ण होने (पालन) के लिये, ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना चाहिये।"

(भगवान् यजुर्वेद)

"विद्वान् मनुष्यों को योग्य है कि संसार में दो कार्य निरन्तर करें—(१) ब्रह्मचर्य तथा जितेन्द्रियत्व की शिक्षा से शरीर को नीरोग, बलिष्ठ और दीर्घजीवी बनावें और (२) सुविद्या और क्रियाकुशलता से आत्मा को तेजस्वी बनावें, जिससे सर्वदा आनन्द प्राप्त हो!"

जैसे प्रसिद्ध अग्नि, बिजली, जठराग्नि और बड़वाग्नि—ये चार और प्राण, इन्द्रिय तथा गो आदि पशु—सब जगत् की पुष्टि करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को ब्रह्मचर्य आदि से अपना तथा दूसरों का बल बढ़ाना चाहिये। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य, औषधिपथ्य

तथा सुन्दर नियमों के सेवन से शरीर की रक्षा करें, तो उनके अङ्ग दृढ़ होते हैं।"

(भगवान् यजुर्वेद)

"सब पुराणों, प्राचीन संस्कृति और धर्म की रक्षा, ब्रह्मचर्य-व्रत से होती है।"

(भगवान अथर्ववेद)

"ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम तप है। अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का व्रती पुरुष देवता है, उसे मनुष्य न समझना चाहिये।"

(भगवान शंकर)

"ऋषिवर! ब्रह्मचारी पुरुष मुझे परम प्रिय जान पड़ता है। ब्रह्मचर्य से ही मेरा निर्भय पद प्राप्त हो सकता है।"

(वैकुण्ठनाथ विष्णु)

"देव, मनुष्य और असुर—सब के लिये ब्रह्मचर्य अमृत-रूप जो वर-दान चाहे, वह ब्रह्म-निष्ठा से प्राप्त हो सकता है।"

(पितामह ब्रह्मा)

"ब्रह्मचर्य से ब्रह्मतेज का सञ्चय होता है। पूर्ण तपस्वी अपने तप का इसी के बल पर साध सकता है। जो अप्सरा महर्षि विश्वामित्र का तपोभङ्ग कर, मुझे निर्भय करेगी, उसे मेरा सदा सम्मान प्राप्त होगा।"

(देवराज इन्द्र)

"हे जीव! ब्रह्मचर्य रूपी सुधानिधि तेरे पास है। उसकी प्रतिष्ठा से अमर बन! निराश मत हो! मनुष्यता को सार्थक बनाने का उद्योग कर!"

(भगवती श्रुति)

"ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुये, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन योग्य है। अधिकारी पुरुष ही अपनी सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है।"

(महर्षि अंगिरा)

"हे निष्पाप! ब्रह्मचर्य से ही संसार की स्थिति है। मूलाधार के नष्ट होने पर ही पदार्थ का नाश होता है। अन्यथा नहीं!"

(महर्षि वशिष्ठ)

"ब्रह्मचर्य का पालन ब्रह्मपद का मूल है। जो अक्षय-पुण्य को पाना चाहता है, वह निष्ठा से जीवन व्यतीत करे।"

(देवर्षिनारद)

"मुनिवर! तुम्हारा शाप अङ्गीकार करता हूँ। विवाह करने से तुम्हारा ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो जाता और लोक-कल्याण में बाधा उपस्थित होती। इसलिये माया करनी पड़ी।"

(भगावन विष्णु)

"मोक्ष का दृढ़ सोपान ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्याश्रम के सुधरने से सब क्रियायें सफल होती हैं।"

(महामुनि दक्ष)

"ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मस्वरूप के दर्शन होते हैं। हे प्रभो! निष्कामता ही प्रदान कर दास को कृतार्थ करें!"

(मुनिवर्य भारद्वाज)

"ब्रह्मचर्य से मनुष्य दिव्यता को प्राप्त होता है। शरीर के त्यागने पर सद्गति मिलती है।"

(मुनीन्द्र गर्ग)

"ब्रह्मचर्य के संरक्षण से मनुष्य को सब लोकों में सुख देने वाली सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।"

(मुनिराज अत्रि)

"जीवात्मा ब्रह्मचर्य से ही परमात्मा में लीन होता है। आप्त धर्म ही चारो फल की प्राप्ति का साधन है।"

(महर्षि व्यास)

"ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से मनुष्य के अशुभ लक्षण भी नष्ट हो जाते हैं।"

"जो उत्तम धर्म का पालन करना चाहे, वह इस संसार में ब्रह्मचर्य का पालन करे !"

(पीयूषपाणि धन्वन्तरि)

"हे राजन् ! ब्रह्मचारी को कहीं भी दुःख नहीं होता। उसे सब कुछ प्राप्य है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से अनेक ऋषि ब्रह्मलोक में स्थित हैं।"

(देवव्रत भीष्म)

"ब्रह्मचारी को सब कुछ सम्भव है। उत्साह से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। वे ही पुरुष-रत्न हैं, जो अपने व्रत का सदा पालन करते हैं।"

(महावीर हनूमान)

"ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर, मनुष्य किसी भी आश्रम (गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास) में प्रविष्ट हो सकता है।"

(ऋषीश जाबालि)

"ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है।"

(ऋषिवर पिप्पलाद)

"ब्रह्मचारी रह कर नियमित रूप से अध्ययन करना चाहिये। विधि-रहित अध्ययन करने से स्वाध्याय का फल नहीं मिलता।"

(महामान्य हारीत)

"हे जनक जी! जिसने ब्रह्मचर्य में चित्त की शुद्धि की है, उसी को अन्य आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) में आनन्द मिलता है।"

(बाल-ब्रह्मचारी शुकदेव)

"विना ब्रह्मचर्य के (विषय-भोग से) आयुष्य, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी, महत्वाकांक्षा, पुण्यतप और स्वाभिमान का नाश हो जाता है।"

(स्मृतिकार गौतम मुनि)

"इच्छा से वीर्य का नाश करने वाला ब्रह्मचारी निश्चय पूर्वक अपने व्रत (ब्रह्मचर्य) का नाश कर देता है।"

(महामति मनु)

"ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है।"

(योगिराज कृष्ण)

"ब्रह्मचर्य के पालन से आत्मबल प्राप्त होता है।"

(योगाचार्य पतञ्जलि)

"ब्रह्मचर्य के बल से ही मनुष्य ऋषि-लोक को जाता है।"

(कपिलमुनि)

"ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने वालों को मोक्ष (स्वर्गीय सुख) मिलता है।"

(सनत्सुजातमुनि)

"वीर्य ही सारे शरीर का सार है।"
"मनुष्य का बल वीर्य के अधीन है।"
"आज ही शरीर की धातुओं का तेज है।"

(वैद्यक)

"अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर, सुलक्षणा स्त्री से विवाह करना चाहिये।"

(मिताक्षरा)

"जो मनुष्य ब्रह्मचारी नहीं उसको कभी सिद्धि नहीं होती। वह जन्म-मरणादि क्लेशों को बार-बार भोगता रहता है।"

(अमृतसिद्ध)

"ब्रह्मचर्य से पाप इस प्रकार कटता है, जिस प्रकार सूर्योदय से अन्धकार का नाश होता है।"

(धर्म-संग्रह)

ऊपर की सम्मतियाँ प्राचीन ग्रन्थों के श्लोकों के मर्म तथा कथानकों के अर्थ या भाव-रूप में संगृहीत की गयी हैं।

तृतीय खण्ड
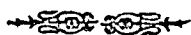
१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसानृतमाः॥

(ऋग्वेद ४।५।६।२)

हे प्रकाशमान परमेश्वर ! तुम कोमल हृदय वाले हो । इसलिये ब्रह्मचर्य-पूर्वक अध्ययन किये हुये, वीर्यशाली मन्त्रों से हम तुम्हारी आराधना करते हैं । तुम हमारी प्रार्थना को सुनो ! इन्द्र और वायु के समान तुम्हारी पूजा भी संसार में होती है ।

तुम इन्द्र और वायु की भाँति इसलिये पूजित हो कि संसार तुम्हारे बिना अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता । तुम्हारी कृपा से अमोघ पापों और दुष्कर्मियों का नाश होता है । ब्रह्मचारी लोग तुम्हारे तेज के लिये अपने व्रत से विचलित नहीं होते । तुम्हारे दिव्य गुणों से ही हमारा सदा कल्याण होता है । हम तुम्हारे ही द्वारा सुगन्धित पदार्थों को देवों तक भेज सकते हैं । हमको भी यही शक्ति दो, जिससे कि ब्रह्मचर्य से रह कर विश्व का उपकार करें । तुम्हारी कृपा से सब कुछ सम्भव है । तुम हमें भी प्रिय और निष्पाप बनाओ ! तुम से हमारी यही प्रार्थना है ।

२—ब्रह्मचर्याश्रम

"ब्रह्मचर्याश्रमो ज्येष्ठः, श्रेष्ठश्चैव तथाविधम् ।"

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों (गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) से ज्येष्ठ और उसी प्रकार श्रेष्ठ भी है।

"साध्यं यत्प्रथमे कर्मः, सुसाध्यं तत्तु सर्वदा ।"

(नीति)

पहले पहल जो कार्य सिद्ध हो जाता है, वह सर्वदा सुसाध्य होता है ।

ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थी की वह अवस्था है, जिसमें वह प्रविष्ट होकर, नियमित समय तक वीर्य-रक्षा सहित विद्याध्ययन करता है। इस आश्रम में प्रविष्ट होने पर, वह माता-पिता से पृथक् हो कर गुरु-कुल या ऋषि-कुल में वास करता है। आयुष्य का कम से कम प्रथम भाग उसे इसी संयमशील अवस्था में बिताना पड़ता है।

प्राचीन समय में यह आश्रम बड़ा महत्वशाली समझा जाता था। राजा-प्रजा सब के पुत्र यथासमय इस आश्रम के अधिकारी बनाये जाते थे। जब तक वे इस अवस्था को पार नहीं कर लेते थे, वे गृहस्थाश्रम के योग्य नहीं समझे जाते थे।

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनं। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

(सुश्रुताचार्य)

इस शरीर की चार अवस्थायें होती हैं। वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और परिहाणि। १६ वें वर्ष से २५ वर्ष तक सब धातुओं को

वृद्धि होती है। २५ वें वर्ष के पश्चात् ४० वें वर्ष तक सब धातुओं के पुष्ट हो जाने से यौवन प्राप्त होता है। ४० वें वर्ष के उपरान्त (६० वर्ष तक) सम्पूर्णता रहती है। तत्पश्चात् ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

यही कारण है कि कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया जाता था। बहुत से विद्यार्थी इस आश्रम का महत्व समझ लेने पर, इससे अधिक समय तक या जीवन पर्यन्त इसी आश्रम में रहते थे।

३—ब्रह्मचर्य युक्त अन्याश्रम

ब्रह्मचर्यं परि समाप्य गृही भवेत्।
गृहीभूत्वा वनी भवेत्। वनीभूत्वा प्रव्रजेत्।

(ब्रह्मज्ञ जावालि)

ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कर लेने पर गृहस्थ बने। गृहस्थाश्रम का निर्वाह करके वनी हो। और वानप्रस्थाश्रम को समाप्त कर लेने पर सन्यासी बने।

"ब्रह्मचारी गृहीः वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये।"

(मनीषी अमर)

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी—ये चार आश्रमों के नाम हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी—ये पृथक्-पृथक् चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हुये हैं।

मनुष्य की साधारण आयु १०० वर्षों की मानी गई है ! इस प्रकार इसके चार बराबर बराबर विभाग किये गये हैं। उन्हीं के प्रत्येक भाग को धर्म-शास्त्र के मत से आश्रम कहा जाता है।

---

(१) ब्रह्मचर्याश्रम

उपनीतो माणवको, वसेद् गुरुकुलेषु च ।
गुरोः कुले प्रियं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा ॥

(धर्मज्ञ हारीत)

उपनयन के हो जाने पर बालक को गुरुकुलों में जाकर रहना चाहिये। वहाँ मन, वचन और कर्म से गुरु के परिवार का हित करना चाहिये।

पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से पुकारा जाता है। व्रत-बन्ध करके पिता अपने पुत्र को किसी सुयोग्य आचार्य को समर्पित कर देता है। यहाँ वह बालक आयुष्य का पहला भाग (२५ वर्षतक) विद्याध्ययन, गुरु-सेवा और सदाचार-पालान में व्यतीत करता है। इतने काल में उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं और वह गृहस्थाश्रम में आने के लिये योग्य बन जाता है।

(२) गृहस्थाश्रम

चतुर्थ मायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौद्विजः।
द्वितीय मायुषो भागं, कृतदारो गृहेवसेत् ॥

(धर्माचार्य मनु)

आयुष्य के चार विभाग का प्रथम भाग गुरुकुल में विता कर, उसके द्वितीय भाग में विवाह कर गृह में वास करे।

दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। इसमें पहले आश्रम की सफलता दिखलाई जाती है। इसका काल, आयुष्य का दूसरा भाग (२५ से ५०) तक है। गृहस्थ का अर्थ—गृह में रहने वाला होता है। इस आश्रम के कर्त्तव्य-कर्मों का भी नीचे उल्लेख किया जाता है:—

१—धर्म के साथ आजीविका के लिये धन एकत्र करना।

२—सुपात्रों को दान दे कर संसार का हित करना।

३—नित्य अपने घर में अग्निहोत्र करना।

४—पति-पत्नी में परस्पर प्रेम और सहकारिता का भाव रखना।

५—वालकों का यथा योग्य पालन-पोषण करना तथा शिक्षा का प्रबन्ध करना।

६—देव-पूजन, माता-पिता की सेवा, वेद का पठन-पाठन, जीवों की रक्षा और अतिथि-सत्कार करना।

६—सरल और सदाचार युक्त जीवन व्यतीत करना।

७—ईश्वर और धर्म पर विश्वास रख कर कार्य करना।

८—अनाचारों से बचने के लिये सदैव नियम-पूर्वक रहना।
९—सत्य, शील और सज्जनता का परिचय देना।
१०—परोपकार, दया, ज्ञान तथा उच्च विचारों में रत सदैव रहना।

(३) वान-प्रस्थाश्रम

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलित मात्मनः।
अपत्यस्यैवचापत्यं, तदारण्यंसमाश्रयेत्॥

(धर्माचार्य मनु)

गृहस्थ जब अपने शरीर को शिथिल देखे और पुत्र को भी पुत्र हो जाय, तब वन में प्रवेश करे।

तीसरा आश्रम वान-प्रस्थाश्रम कहलाता है। इस में पहले कहे हुये, दोनों आश्रमों से विरक्ति होने लगती है। इसका समय आयुष्य का तीसरा भाग (५० से ७५ तक) है। वानप्रस्थ का अभिप्राय ही—वन में बसने वाला है। अब हम इस आश्रम के मूल कर्त्तव्यों का भी नीचे वर्णन करते हैं:—

१—वन में कुटी बना कर रहे और प्रकृति के तत्वों का निरीक्षण करे।

२—संसार के कल्याण के लिये विद्यार्थियों को विद्या-दान दे।

३—पशु-पक्षी आदि सब को प्रेम की दृष्टि से देखे।

४—फल, मूल आदि को खाकर अपना जीवन-निर्वाह करे।

५—नाना प्रकार की विद्याओं और विज्ञानों का आविष्कार करे।

६—सर्वदा संयम और सदाचार से अपने शरीर को शुद्ध और आत्मा को उन्नत बनावे।

७—व्रत और हवन से अपने हृदय और बुद्धि को शान्त और तीव्र बनावे।

८—धर्म-कर्म का आदेश गृहस्थों को भी देता रहे।

९—इन्द्रिय-दमन और योगाभ्यास को दृढ़ करे।

१०—परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में मन को रमाता रहे।

---

(४) सन्यासाश्रम

वनेषु च विहृत्यैवं, तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषोभागं,त्यक्त्वासङ्गान्परिव्रजेत्॥

(धर्माचार्य मनु)

इस प्रकार आयुष्य का तीसरा भाग वनों में बिता कर उस के चौथे भाग में (७५ से १०० तक) सब प्रकार के सम्बन्धों को त्याग कर सन्यासी हो जाय।

चौथे आश्रम का नाम सन्यासाश्रम है। यह अन्तिम आश्रम है। इस में पहले कहे गये तीनों आश्रमों के कर्मों का भी त्याग हो जाता है। सन्यास का अर्थ है—सम्पूर्ण रीति से त्याग। इस आश्रम के प्रधान कर्त्तव्यों का वर्णन नीचे किया जाता है:—

१—शरीर-रक्षा के लिये अल्प तथा सात्विक आहार करना।

२—एक स्थान पर न रह कर देशाटन करना।

३—अपने पवित्र विचारों से संसार का हित करना और दोषों को दूर करना।

४—अपने मन को शुद्ध रख कर आचरण करना।

५—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों से दूर रहना।

६—न जीने की इच्छा और न मरने का भय करना।

७—सत्य बात कहना और कभी मिथ्या का आश्रय न लेना।

८—प्राणि-मात्र पर दया रखना और सुख-दुःख को समान मानना।

९—क्षमाशील, शान्त, आत्मचिन्तक और ब्रह्मज्ञ बनना।

१०—योगाभ्यास और ईश्वर-स्मरण में अपना समय बिताना।

५—ब्रह्मचर्ययुक्त वर्ण-व्यवस्था

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण-कर्म-विभागशः।"

(श्रीभगवद्गीता)

चारों वर्णों की रचना, उनके गुण और कर्म के विभाग के अनुसार की गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां ँ शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद)

परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य और पग से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। सारांश यह कि ज्ञान, बल, धन और सेवा-प्रधान, मनुष्य-जाति के चार विभाग बनाये गये।

१. ब्राह्मण

अध्यापन मध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रति ग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

(मनुस्मृति)

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना—ये ब्राह्मण के कर्म हैं। ११

शमो दमस्तपः शौचं, शान्तिरार्जव मेवच।
ज्ञानं विज्ञानमस्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

(श्रीभगवद्गीता)

मन की शान्ति, इन्द्रियों का दमन, जितेन्द्रियता, पवित्रता, क्षमा-शीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं।

२. क्षत्रिय

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्यनमेवच।
विषयेष्व प्रसक्तिश्च, क्षत्रियस्य समासतः ॥

(मनुस्मृति)

प्रजा-रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, जितेन्द्रिय रहना—ये क्षत्रियों के संक्षिप्त कर्म हैं।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्र कर्म स्वभावजम् ॥

(श्रीभगवद्गीता)

शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में दृढ़ता, दान, और आस्तिकता—ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

३. वैश्य

पशूनां रक्षणं दान मिज्याध्ययन मेवच ।
वणिक्पथं कुसीदञ्च, वैश्यस्य कृषिरेवच ॥

(मनुस्मृति)

पशुओं का संरक्षण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, और सूद लेना—ये वैश्य के कर्म हैं ।

४. शूद्र

एकमेव तु शूद्रस्य, प्रभुकर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां, शुश्रूषा मनुसूयया ॥

(मनुस्मृति)

शूद्र का एक ही कर्म निर्धारित किया गया है कि ऊपर कहे गये वर्णों की बहुत संयमशीलता से सेवा करते रहें ।

द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को तो उपनयन, ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन का प्रत्यक्ष रूप से अधिकार है । तीनों वर्णों के कर्म भी ऐसे हैं, जो बिना ब्रह्मचर्य पालन किये कदापि नहीं चल सकते । अब रहे शूद्र, यदि वे भी ब्रह्मचर्य से न रहें तो उन्हें भी सेवा कार्य का सुचारु-रूप से निर्वाह करना परम कठिन है । क्योंकि योगिवर भर्तृहरि का कहना है कि सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है, उसका पालन करना योगियों को भी दुर्लभ होता है ।

मनुष्य-शरीर में भी प्रकृति ने चारो वर्णों की व्यवस्था की है। ज्ञान,बल,ऐश्वर्य और सेवा-कार्य के बिना एक क्षण भी इसकी स्थिति

नहीं हो सकती। इसलिये इस प्रकार भी यह बात स्वाभाविक है कि ब्रह्मचर्य-व्रत से इस चातुवर्ण्य की उन्नति की जाय!

६—गुरुकुल-ऋषिकुल

"विद्यायाति गुरोः कुले।"

(सूक्ति)

विद्यार्थी को गुरुकुल में विद्या की प्राप्ति होती है।

"ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः।"

ऋषि लोग हित की बात विचारने वाले थे, या संसार को शिक्षा देते थे।

आर्य-सभ्यता के समय में हमारे इस देश में स्थान-स्थान पर गुरुकुल और ऋषिकुल थे। 'गुरुकुल' और 'ऋषिकुल'—उस स्थान को कहते हैं, जहाँ गुरु या ऋषि का परिवार रहता था।

वह गुरुकुल या ऋषिकुल उस स्थान पर रहता था, जो जल-वायु की दृष्टि से सर्वोत्तम ठहरता था। यह प्रायः हरे-भरे वनों या उर्वरा पार्वतीय भूमि पर होता था। यहाँ नाना प्रकार के स्वास्थ्य कारक वृक्ष, फल और फूलों की अधिकता होती थी। भिन्न-भिन्न जाति के पशु और मनोहर शब्द करने वाले पक्षियों को आने जाने की पूर्ण स्वाधीनता रहती थी।

इस एकान्त स्थान में गुरु या ऋषि लोग अपनी पत्नी और सन्तान सहित निवास करते थे। बहुत से ऐसे भी रहते थे, जिनके पास पत्नी और सन्तान नहीं रहती थी।

गुरु वे लोग होते थे, जो ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम का

विधिवत् पालन कर, वान-प्रस्थाश्रम में प्रवृष्ट होते थे। वे यथा समय पुत्र और पौत्रों को गृह पर छोड़ कर, इस आश्रम में पधारते थे। वे पत्नी को भी त्याग देते थे, या उनके स्वीकार करने पर अपने साथ रखते थे। उनके आयुष्य का तृतीय या शेष सम्पूर्ण भाग ब्रह्मचारियों के विद्या-दान और सद्ज्ञान के चिन्तन में व्यतीत होता था।

ऋषि लोग वे होते थे, जो सदैव ब्रह्मचारी रह कर, लोक का कल्याण करते थे। विद्या-दान को वे सब से बड़ा पुण्य समझते थे। इसलिये वे प्रायः विद्यार्थियों को अपने यहाँ रखकर वेद तथा वेदाङ्गों की शिक्षा देते थे। विवाह उनकी इच्छा पर निर्भर रहता था। उनका जीवन परम पवित्र और सात्विक होता था। विद्यार्थी लोग उनके अनुकरण से अपने को योग्य बनाते थे।

गुरुओं और ऋषियों के सिद्धान्त प्रायः एक से थे। गुरु लोगों की अपेक्षा ऋषि लोग अधिक निःस्वार्थी होते थे। सपत्नीक रहने के कारण गुरुओं को विशेष आवश्यकता रहती थी, पर ऋषियों को विशेष मुक्तता थी।

इन गुरुकुलों और ऋषिकुलों में राजा तथा अन्य धर्मात्मा पुरुष ब्रह्मचारियों के दर्शन के लिये आते थे और उचित सहायता देने के लिये प्रार्थना करते थे। विद्यार्थी और गुरु सभी स्वात्मावलम्बी होते थे। वे अपने लिये परिश्रम और पुरुषार्थ से स्वयं वृत्ति-उपार्जित कर लेते थे।

इस गुरुकुल और ऋषिकुल-प्रणाली से देश और समाज का बड़ा लाभ होता था। राजा को शिक्षा-विभाग नियत करने की आवश्यकता न थी। प्रजा को शिक्षा के लिये कष्ट नहीं उठाना

पड़ता था। राजा और प्रजा दोनों गुरुकुल तथा ऋषिकुल का स्वतः सेवा किया करते थे।

जब से इस देश में गुरुकुल और ऋषिकुल की प्रणाली नष्ट हुई, तब से ब्रह्मचर्य और विद्या का लोप ही होता गया। आज कल की विद्यालय-प्रथा से शतांश लाभ भी नहीं होता। गुरुकुल काँगड़ी, ऋषिकुल हरद्वार, शान्ति निकेतन बोलपुर, सत्याग्रह आश्रम अहमदाबाद और कन्या-गुरुकुल दिल्ली से कुछ जनता का हित-साधन हो रहा है, पर इस देश की जन-संख्या को देखते हुये, अभी नितान्त अभाव जान पड़ता है। इन स्थानों में भी अभी प्राचीन आदर्शों की पूर्ति नहीं की जाती। इनके सञ्चालन में भी अभी प्राचीनता की बहुत कमी है। ये नवीन युग के अनुकूल चलने के उद्योग में हैं। हम इनका विरोध तो नहीं करते, पर इतना अवश्य कहेंगे कि ब्रह्मचर्य और विद्या की उन्नति के लिये, इनके पास अपूर्ण साधन हैं। अतएव हमारा विचार है कि वीर्य-रक्षा, विद्याध्ययन, संसार-सेवा और सुस्वास्थ्य की कामना से पुनः उस गुरु-कुल और ऋषि-कुल-प्रणाली का उद्धार करना चाहिये।

६—उपनयन-संस्कार

"संस्कारात्प्रबला जातिः।"

संस्कार के प्रभाव से जाति को प्रबलता प्राप्त होती है।

"उपनीतो माणवको, वसेद् गुरुकुलेषुच।"

उपनयन-संस्कार के हो जाने पर, ब्रह्मचारी गुरुकुलों में जा कर वास करे!

यज्ञोपवीत संस्कार बड़े महत्व का है। इस संस्कार के साथ ही बालक का ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता है।

इस संस्कार की प्रणाली वैदिक है। बिना इसके बालक वेद का अधिकारी नहीं होता। प्राचीन काल में इस संस्कार के हो जाने पर, माता-पिता अपने बालकों को गुरुकुलों में भेज देते थे। उपनीत बालक को उसका आचार्य वेद पढ़ाता था।

प्रायः सभी स्मृतियों ने केवल द्विजाति को ही यज्ञोपवीत का अधिकारी माना है। मनुस्मृति में बालक के यज्ञोपवीत-काल का इस प्रकार विधान किया गया है:—

गर्भाष्टमाब्देऽकुर्वीत, ब्राह्मस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशेराज्ञो, गर्भात्तु द्वादशेविशः॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें में क्षत्रिय का और बारहवें में वैश्य का उपनयन करना चाहिये।

ब्रह्मवर्चसकामस्य, कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्टे, वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

ब्रह्मतेज की कामना से ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, बलोत्साह की इच्छा से क्षत्रिय का छठें में और धनैश्वर्य के मनोरथ से वैश्य का आठवें में उपनयन कर देना योग्य है।

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य, सावित्री नाति वर्त्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धो राचतु र्विंशते र्विंशम्॥

सोलह वर्ष के पश्चात् ब्राह्मणों को, बाइस के पश्चात् क्षत्रियों को और चौबीस के पश्चात वैश्यों को सावित्री (गायत्री मन्त्र) का उपदेश नहीं किया जा सकता।

यदि उपर्युक्त वर्षों से पूर्व यज्ञोपवीत न हुआ, तो वह बालक पतित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचर्य और वेदाध्ययन के योग्य नहीं रह जाता। बिना यज्ञोपवीत के वह गुरुकुलों में भेजा नहीं जा सकता और अवस्था अधिक हो जाने से वह बालक कुसंस्कारी हो जाता है। अधिक अवस्था वाले बालक पर आचार्य अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। जब कुसंस्कार दृढ़ हो जाते हैं, तो उनका दूर करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसी लिये ब्रह्मचारी के लिये यज्ञोपवीत-सूत्र के अतिरिक्त मृगचर्म, मेखला और दण्ड—ये तीन वस्तुयें भी आवश्यक हैं। भगवान् मनु ने इनका भी विधान वर्ण-क्रम के अनुसार भिन्न-भिन्न भाँति का किया है।

यज्ञोपवीत धारण करने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और गुरु-शुश्रूषा में दृढ़ प्रतिज्ञता, उत्तमता और क्षमता को प्राप्त करे। मृगचर्म का यह अभिप्राय है कि पवित्रता, निःस्वार्थपरायणता और स्वाधीनता-पूर्वक वह अपना समय व्यतीत करे। मेखला का यह अभिप्राय है कि वह अपने अनुष्ठान में कटिबद्धता, नियमितता और धार्मिकता से लगा रहे, और दण्ड का यह अभिप्राय है कि उन्नत तथा उच्च विचारों से आत्म-दमन, शरीर-संरक्षण और निर्भीकत्व के लिये प्रयत्न करता रहे।

७—यज्ञोपवीत-विधि

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।"

(अथर्ववेद)

आचार्य उपनयन किये हुए ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में रखता है।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं,
प्रजापते र्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रम्,
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

(व्रतबन्ध)

यज्ञोपवीत अत्यन्त पवित्र है। यह ब्रह्मा के आगे ही उत्पन्न हुआ। यह आयुष्य देने वाला है—स्वच्छ है। इसे धारण करो! यह बल और तेज को बढ़ाता है।

उपनयन-संस्कार की विधि भी बड़े उत्तम रहस्यों से भरी हुई है। हम संक्षेप में उसके मुख्य अङ्गों का वर्णन यहाँ पर कर देना उचित समझते हैं:—

उपनयन से ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ होता है। इसलिये इसका नाम 'व्रतादेश' भी है। बालक का चौर-कर्म कराकर स्नान से शुद्ध होने पर, अग्नि में हवन कराया जाता है।

तत्पश्चात् अग्नि के समीप उसे यज्ञोपवीत धारण कराकर गायत्री-मन्त्र का उपदेश किया जाता है। इस समय मृगचर्म, मेखला, दण्ड और कौपीन उसे धारण करना पड़ता है। आचार्य अग्नि की उत्तर दिशा में पूर्वाभिमुख होकर बैठता है और

अपनी अँजली में जल लेकर सविता के मन्त्र से बिन्दु-बिन्दु कर शिष्य की अञ्जलि में गिराता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि तुम नम्रता-पूर्वक हमारी रक्षा में रहोगे, तो इसी प्रकार क्रमशः हम तुम्हें अपनी सारी विद्या पढ़ावेंगे। फिर कहता है कि सविता ने तेरा हाथ पकड़ा है और अग्नि तेरा आचार्य है। इसका अभिप्राय यह है कि तू सूर्य की भाँति तेजस्वी और अग्नि की भाँति पवित्र ब्रह्मचारी बन। फिर आचार्य बालक को सूर्य के दर्शन करा के प्रार्थना कराता है।

तत्पश्चात् आचार्य बालक के हृदय पर दाहिना हाथ धरकर निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता है:—

ॐ मम व्रते ते हृदयं संदधामि। मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेक मनाजुषस्व। बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्।

मेरे सदाचार के अनुकूल तेरा हृदय हो! मेरे चित्त का अनुसरण तेरा चित्त करे। मेरी वाणी का अनुकरण तेरी वाणी करे। विद्या के देव बृहस्पति तुम्हें मेरे सङ्ग नियुक्त करें।

आचार्य फिर ब्रह्मचारी का दाहना हाथ पकड़ कर पूछता है:—

आचा०—को नामासि? (तेरा क्या नाम है)

ब्रह्म०—अमुक शर्माऽहम्! (मेरा अमुक नाम है)

आचा०—कस्य ब्रह्मचार्यसीति? (तू किसका ब्रह्मचारी है)

ब्रह्म०—भवत इति। (मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ)

आचा०—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्य स्तवाहमाचार्यः।

जैसे इन्द्र ब्रह्मचारी हैं और उसका आचार्य अग्नि है, उसी प्रकार मैं तेरा हूँ।

८—ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा

व्रतबन्ध हो जाने पर बालक की संज्ञा ब्रह्मचारी हो जाती है। उसे गुरुकुल में जाने की आज्ञा मिलती है। उस समय वह बहुत सी बातों की, सबके सामने प्रतिज्ञा करता है। वह प्रतिज्ञा वास्तव में देखने ही योग्य है। उस प्रतिज्ञा का सारांश श्रीमान् पं० सूर्य नारायणजी आचार्य, जयपुर ने सुन्दर पद्यों में वर्णित किया है। पाठकों के लाभार्थ उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

कविता

मैं ब्रह्मकुल का बालक बनता हूँ ब्रह्मचारी।
पढ़ने को वेद विद्या करता हूँ मैं तयारी॥
आचार्य ने कृपा कर उपनीत कर दिया है।
मन्त्रों से होम करके पावन मुझे किया है॥

गुरुमंत्र का सदा ही करता रहूँगा जप मैं।
सद्बुद्धि के उदयहित करता रहूँगा तप मैं॥
अग्ने! मुझे कृपा कर देना वही सुमेधा।
ध्याते जिसे पितर हैं सब देव औ सुवेधा॥

रक्षा सदैव करना गायत्रि वेद मातः!
करता हूँ ध्यान तेरा सायं तथैव प्रातः॥
मैं सूर्य के उदय से पहले सदा जगूँगा।
बाहर नगर से जाकर शौच-क्रिया करूँगा॥

मल मूत्र-इन्द्रियों को धोऊँगा मृत् लगा कर।
मैं स्नान-मन्त्र सारे पढ़ लूँगा चित् लगाकर॥

मैं स्नान कर कुशासन फौरन् बिछा जचूँगा।
ध्या करके ब्रह्मज्योतिः पापों से मैं बचूँगा॥

गुरु-मंत्र से शिखा को बाँधूँगा नित्य ही मैं।
फिर आचमन करूँगा सब धर्म कृत्य ही मैं॥
करके सुप्राण संयम अघमर्षणादि जप के।
ध्याऊँगा सूर्य को मैं होंगे जो धाम तप के॥

जप से निवृत्त होकर गुरु वन्दना करूँगा।
संमुख सदैव गुरु के भिक्षा मैं ला धरूँगा॥
आज्ञा गुरू की पाके श्रुति-शास्त्र मैं पढ़ूँगा।
करने को देश-सेवा आगे सदा बढ़ूँगा॥

सोऊँगा भूमि पर ही पीऊँगा शुद्ध पानी।
सात्विक करूँगा भोजन जिससे बनूँगा ज्ञानी॥
मधु-मांस का विवर्जन है मुख्य धर्म मेरा।
शास्त्रोक्त होम विधि ही है मुख्य कर्म मेरा॥

मिथ्या कभी न बोलूँ प्रण को कभी न तोड़ूं।
धर्मार्थ कष्ट भी जो आवे तो मुँह न मोड़ूँ॥
सहकर के शीत-वर्षा तन को सुदृढ़ बनाऊं।
परमार्थ में ही अपना सर्वस्व मैं लगाऊं॥

स्त्री-संग से सदा ही बचता रहूँगा स्वामिन्।
सद्ग्रंथ मैं सदा ही रचता रहूँगा स्वामिन्॥
कर करके वीर्य-रक्षा तन-मन करूँगा पक्का।
धरती पै डाल दूँगा दुष्टों को देके धक्का॥
विद्या-कला का संचय मैं आज कर रहा हूँ।
हृत्कोष में सुमति का पीयूष भर रहा हूँ॥

देकर के वेद-विद्या गुरु जब विदा करेंगे।
गुरु-दक्षिणा भी कुछ हम चरणों में ला धरेंगे॥

कैसा परम मनोहर होगा अहो! समय वह।
आचार्य्य देंगे मुझको करके कृपा अभय वह॥
प्रेमाश्रु की सुधारा नयनों से वह चलेगी।
गुरु से वियुक्त होते हस्तों को मति मिलेगी॥

—आचार्य के दिव्योपदेश

"आचार्यो ब्रह्मचारी।"

(अथर्ववेद)

आचार्य ब्रह्मचारी (सदाचार का पालन करनेवाला) होता है, या यों कहिये कि आचार्य सद्ज्ञान का उपदेश देता है।

"वेद-प्रदानादाचार्यं, पितरं परिचक्षते।"

(धर्मज्ञ मनु)

वेद-विद्याओं के पढ़ाने के कारण आचार्य पिता करके माना गया है।

बालक का विधि-विहित यज्ञोपवीत-संस्कार हो जाने पर उसके माता-पिता उसे गुरु-कुल में वेद पढ़ने के लिये प्रवृष्ट करा देते हैं। वहाँ वह अपने आचार्य को पिता मान कर उसकी संरक्षकता में समय व्यतीत करने लगता है। इस अवस्था में आचार्य उसके हित के लिये नाना प्रकार के दिव्य उपदेश देता है। इस कर्त्तव्य के सम्बन्ध में वेद-परक तैत्तिरीय उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है.—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन मनुशास्ति:—

आचार्य अपने ब्रह्मचारी शिष्य को इस प्रकार शिक्षा देता है:—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

हे पुत्र ! तू सत्य बोलना । धर्म पर चलना और स्वाध्याय (पाठ) में प्रमाद न करना ।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।

पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्याध्ययन के समाप्त होने पर आचार्य को दक्षिणा देकर, सन्तानोत्पत्ति के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ।

सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् ।

प्रमाद-वश होकर सत्य से विमुख न होना, प्रमाद के कारण धर्म को न त्याग देना और प्रमाद-युक्त हो कर सत्कर्म को न खो बैठना ।

भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

अपने ऐश्वर की वृद्धि में प्रमाद न करना—अपने पठन-पाठन में असावधानता मत करना और देव तथा पितरों के कार्य से विरक्त न होना ।

मातृदेवो भव । पितृ देवो भव । आचार्यदेवोभव । अतिथि देवो भव ।

अपने माता-पिता, आचार्य तथा अतिथि का सत्कार करना ।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ।

जो कर्म दोष-रहित हों, उनका पालन करना । दुष्कर्मों का कभी नहीं !

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।

जो हमारे अच्छे आचरण हों, उनका अनुकरण करना। कुचरित्रों का नहीं !

ये के चास्मच्छ्रेया ९ सो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्व-सितव्यम्।

जो लोग हममें उत्तम ब्रह्मज्ञानी हैं, उन्हीं के सत्सङ्ग का विश्वास करना !

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

श्रद्धा से देना—अश्रद्धा से देना—शोभा से देना—लज्जा से देना—और प्रतिज्ञा से दान देना चाहिये।

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्म कामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः।

कभी कर्म या ज्ञान सम्बन्धी संशय उपस्थित हो, तो ऐसी अवस्था में ब्रह्मज्ञानी, पक्षपात-रहित, योगी, अयोगी, दयावान् और धर्म के प्रेमी वहाँ जैसा आचरण करते हों, वैसा ही आचरण करना योग्य है।

एष आदेश, एष उपदेश, एषा वेदोपनिषद्। एतदनुशास-नम्। एवमुपालितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्।

यही आज्ञा है, यही उपदेश है तथा यही वेद और उपनिषद् की शिक्षा है। यही करना चाहिये। इसी प्रकार के सदाचार का पालन कर्त्तव्य है।

१०--पठन-पाठन के आदेश

"पालनीया गुरोराज्ञा ।"

(सूक्ति)

गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये ।

"सर्वेषां मेवदानानां, विद्यादानं विशिष्यते ।"

(नीति-शास्त्र)

सब प्रकार के दानों में विद्यादान श्रेष्ठ है ।

हमारे प्राचीन गुरुकुलों और ऋषिकुलों की पाठ-प्रणाली बड़ी सुखद थी । आज कल की भाँति अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे । पढ़ने वाले और पढ़ाने वालों में परस्पर शिष्य और गुरु का सम्बन्ध था । एक पुत्र और दूसरा पिता के समान माना जाता था और इसी प्रकार का परस्पर व्यवहार भी किया जाता था । यही कारण है कि पठन-पाठन में विशेष असुविधा न थी ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में विद्यार्थी और अध्यापक के लिये बड़े ही उत्तम आदेश किये गये हैं । उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यय प्रवचने च । तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च । दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च । शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च ।

१—नियमबद्धता के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये ।

२—सत्य-प्रियता के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये ।

३—परिश्रम-शीलता के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये ।

४—इन्द्रिय-दमन के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

५—मनोनिग्रह के साथ विद्या को पढ़ाना और पढ़ाना चाहिये।

६—विज्ञान-तर्क के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

७—अग्निहोत्र के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ना चाहिये।

८—अतिथि-सत्कार के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

९—मनुष्योचित व्यवहार के साथ विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

१०—ज्ञान-सुधार के साथ पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

११—ब्रह्मचर्य रक्षा के सहित विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

१२—आश्रित-पालन के सहित विद्या को पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

ऊपर कहे गये आदेशों में १२ बातें पठन और पाठन के लिये प्रधान बतलाई गई हैं। इनके देखने से हमें प्राचीन-काल की विचारशीलता का भली भाँति बोध हो जाता है। ऐसी उच्च शिक्षा-प्रणाली की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

१—नियम-बद्धता २—सत्य-प्रियता ३—परिश्रम-शीलता—इन तीनों के बिना विद्या पढ़ी और पढ़ाई नहीं जा सकती। शिष्य और गुरु दोनों को नियम-बद्ध, सत्य-प्रिय और परिश्रमशील होना आवश्यक है।

४—इन्द्रिय-दमन ५—मनोनिग्रह ६—विज्ञान-तर्क—इन तीनों के साथ विद्या पढ़ने और पढ़ाने से वह फलवती होती है। इन्द्रिय-लोलुपता, चित्त की अनस्थिरता और अन्ध विश्वास से पढ़ी या पढ़ाई गई विद्या कभी किसी अर्थ की नहीं होती।

७—अग्नि-होत्र ८—अतिथि सत्कार ९—मनुष्योचित व्यवहार—ये तीनों सत्कर्त्तव्य हैं। विद्या पढ़ने या पढ़ाने का यही अभिप्राय है कि इन कर्त्तव्यों का विधिवत् पालन हो। शिष्य और गुरु दोनों के लिये ये अत्यन्त उपयोगी है।

१०—जन-सुधार ११—ब्रह्मचर्य और १२—आश्रितपालन—इन तीनों के बिना भी विद्या का पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है। शिष्य और गुरु दोनों को जन-सुधारक, ब्रह्मचारी और आश्रित-पालक बनना योग्य है।

यही कारण था कि प्राचीन समय में हमारे देश में शिष्य और गुरुओं की विद्या सफल होती थी। वे लोग इन्हीं आदेशों को ध्यान में रख कर विद्या पढ़ते और पढ़ाते थे। यदि आजकल भी इन आदर्शों पर चला जाय, तो ब्रह्मचर्य और विद्या का पुनः देश भर में निश्चय रूप से प्रचार और सुधार किया जा सकता है।

११—गुरु-महिमा

"आचार्यस्ततक्षनभसी उभेइमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवञ्च।"

(अथर्ववेद)

आचार्य अत्यन्त गम्भीर, भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान, जिससे दोनों लोकों का सुधार होता है; अपने शिष्य को कराता है।

"गुरुः साक्षातपर ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः।"

गुरु साक्षात् परमात्मा है। इसलिये उसे हमारा नमस्कार है।

बालक का प्रथम जन्म माता-पिता से होता है और दूसरा जन्म आचार्य देता है। इसी कारण से सर्वत्र उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। ब्रह्मचर्य-सूक्त में ब्रह्मचारी के इस दूसरे जन्म का बड़ा उत्तम रूपक बाँधा गया है।

वास्तव में गुरु या आचार्य की महिमा अपार है। वह बालक को अज्ञान-रूपी अन्धकार में, उपदेश रूपी प्रकाश देकर, सत्पदार्थों के दर्शन कराता है। उसके सद्व्यवहार, परम स्वार्थ-त्याग, कर्त्तव्य-निष्ठा, प्रगाढ़ परिश्रम, अनुपम अनुभव और सदाचार से ही ब्रह्मचारी का जीवन बनता है। यह उक्ति बहुत सत्य है कि जैसा गुरु होता है, उसका शिष्य भी वैसा ही बनता है।

संसार में शिक्षा का काम बड़ा महत्व शाली और क्लिष्ट समझा जाता है। इसके सभी लोग अधिकारी नहीं हो सकते। इसके लिये बड़े अनुभव, ज्ञान, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और संयमशीलता की आवश्यकता होती है। जिस पुरुष के हाथ में भावी लोक-सुधार का कार्य ही सौंपा गया हो, वह क्यों न सबसे पूज्य तथा प्रतिष्ठित हो ?

धर्मज्ञ मनु ने आचार्य की इस प्रकार अपने ग्रन्थ में परिभाषा तथा उसके कर्म की प्रशंसा की है:—

उपनीय तु यः शिष्यं, वेदमध्यापयेद्द्विजः।
संकल्पं सरहस्यञ्च, तमाचार्यं प्रचक्षते॥

जो बालक का यज्ञोपवीत करा कर यज्ञ-विधि, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग सहित वेदों को पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।

नानाविधानि कार्याणि कर्त्ता-कारयिता च यः।
सर्व धर्म विधिज्ञश्च स आचार्य उच्यते॥

नाना प्रकार के वैदिक कर्मों को करने और करानेवाला और सब प्रकार के यज्ञ-धर्म की विधि जाननेवाला आचार्य कहलाता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं, विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥

साङ्गोपाङ्ग वेद का ज्ञाता आचार्य जिस जाति को गायत्री-मन्त्र देकर उत्पन्न करता है, वह सत्य तथा अजर-अमर होती है।

१२—आदर्श शिष्य

"को वा गुरुर्यस्तु हितोपदेष्टा।
शिष्यस्तु को यो गुरु-भक्त एव॥"

(शंकराचार्य)

गुरु कौन है? जो हित का उपदेश करे। और शिष्य कौन है? जो गुरु की आज्ञा माने।

"गुरु-शुश्रूषया विद्या।"

गुरु की सेवा से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त होता है।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ होता है। पिता-पुत्र की उपमा भी इसके लिये कुछ अंशों में चरितार्थ हो सकती है। जो गुरु हित का उपदेशक नहीं है, उससे विद्यार्थी का वास्तविक लाभ कभी नहीं हो सकता। और उसी प्रकार जो शिष्य आज्ञाकारी नहीं है, उसे त्रिकाल में ज्ञान नहीं मिल सकता। इस बात की सत्यता नीचे के उदाहरण से प्रकट हो जायगी:—

एक आचार्य के यहाँ एक ऋषिकुमार पढ़ता था। उसका नाम आरुणि था। एक दिन धान का खेत देखने के लिये उसके गुरु ने भेजा था। वहाँ डाँड़ कट जाने के कारण पानी बाहर वह रहा था। वहाँ से उसके घर लौटने भर में खेत का सारा पानी निकल जाता और धान सूख जाता। यह विचार कर आरुणि स्वयं उसी में पड़ गया और इस प्रकार पानी रोके उसे दिन वहीं बीत गया।। सन्ध्या समय गुरु को ध्यान आया कि क्या कारण कि आरुणि अभी तक घर नहीं लौटा। अतएव वे अपने दूसरे शिष्यों को लेकर उसे देखने गये। नाम लेकर पुकारने पर वह बोला कि गुरुजी मैं यहाँ पानी रोक कर पड़ा हूँ। जब सब लोग उसके पास पहुँच गये, तब उसने सारा समाचार कह सुनाया। लोगों ने मिल कर मेड़ बाँध दिया, तथा आरुणि के गुरु उससे अत्यन्त प्रसन्न हुये। गुरु की इस कृपा और आशीर्वाद से आरुणि थोड़े ही दिनों में प्रकाण्ड पण्डित हुआ।

एकलव्य नाम का एक वनचर था। उसके मन में अभिलाषा हुई कि द्रोणाचार्य से बाण-विद्या सीखें, पर आचार्य ने उसे नीच समझ कर विमुख फेर दिया। इस पर वह वन में जाकर द्रोणाचार्य की एक प्रस्तर की मूर्ति खड़ी कर, उसके सम्मुख बाण चलाता था। इस श्रद्धा और विश्वास से थोड़े ही दिनों में वह बालक बड़ा निपुण धनुर्धर निकल गया।

एक दिन वीरवर अर्जुन उस वन में गये। वहाँ इसकी बाण-विद्या के कौशल को देखकर उनके मन में बड़ा द्वेष उत्पन्न हुआ। उनके पूछने पर उसने अपने को द्रोणाचार्य का शिष्य बतलाया। यह बात जानकर अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने आचार्य

से जाकर कहा कि जो वाण-विद्या आपने एकलव्य को सिखलाई है, वह मैं नहीं जानता। यह कैसी बात ?

अर्जुन का यह उपालम्भ द्रोणाचार्य के हृदय में लगा और इस बात की परीक्षा के लिये एकलव्य के पास गये। उससे इन्हें सब समाचार ज्ञात हुआ। इस पर आचार्य ने गुरु-दक्षिणा माँगी कि तुम अपने दाहिने हाथ का अँगूठा हमें दे दो। इस पर उसने अपने को धन्य समझ कर सहर्ष अँगूठा काट कर तत्काल प्रदान किया और आचार्य उसे आशीर्वाद देकर विदा हुये।

ऐसे ही सच्चे शिष्यों पर विद्या देवी की कृपा रहती है। इसी प्रकार के गुरुभक्त शिष्यों से देश, जाति और समाज का दुःख दूर हो सकता है।

१३—ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार

"न किञ्चिद्भयमाप्नोति, ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः।"

(सूक्ति)

ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित रहने से तनिक भी भय नहीं रहता।

"ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।"

ब्रह्मचर्य ही परम तप है।

छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य का बहुत ही उत्तम उल्लेख है। उसमें ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार वतलाये गये हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। प्रत्येक प्रकार के लिये आयुष्य का एक नियमित काल निर्धारित किया गया है और उन्हीं मन्त्रों में उनसे होने वाले

लाभों का भी उच्च वर्णन है। अतएव हम उन आवश्यक मन्त्रों को उनके अभिप्रायार्थ के साथ यहाँ उद्धृत करते हैं।

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रात स्सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः स्सवनंतदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं ँ सर्वं वासयन्ति।

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातः स्सवनं माध्यन्दिनं सवनमनु सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति।

यह पुरुष अन्नरसमय देह और जीवात्मा के योग से बना है। यह स्वयं यज्ञ रूप है। इसका सत्कर्त्तव्य है कि जैसे २४ अक्षरों की गायत्री होती है और उस से कल्याण साधन होता है, उसी प्रकार यह भी २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रियत्व को धारण करे। इतने काल तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों का अभ्यास करे। उसके इस कार्य से उस के प्राण बलवान हो कर, सब दिव्य गुणों से युक्त हो जाते हैं। ब्रह्मचारी के आचार्य को चाहिये कि उसे इस पथ पर चलने का हितोपदेश करता रहे। ब्रह्मचारी भी अपने मन में यह धारणा करे कि इस व्रत के पालन से उसका आत्मा वीर्यवान् और शरीर शक्तिमान् हो जायगा और उसके अन्तःकरण में सद्गुणों का विकास होगा। हे मनुष्यो! तुम सब सुखों के प्रकाश करने वाले ब्रह्मचर्य का लोप न होने दो।

"अथयानिचतुश्चत्वारिंशनवर्षाणितन्माध्यन्दिनं सवनंचतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणाः वाव रुद्रा एते हीदं ँ सर्वं रोदयन्ति।"

"तं चेदस्मिन्वयसि किञ्चिदुपत पेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदंमे माध्यन्दिनं सवनं तृतीय सवनमनुसन्तनुतेति माहंप्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धेव तत पत्यगदोह भवति।"

२—मध्यम ब्रह्मचर्य—जैसे ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप्-छन्द होता है, वैसे ही जो पुरुष ४४ वर्षों तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसके प्राण और सर्वाङ्ग वलवान् होकर दुर्गुणों का नाश करते हैं। यदि हम प्रथम वय में इस कहे हुए ब्रह्मचर्य का विधिवत् पालन करेंगे, तो हमारे प्राण रुद्र-रूप होकर, सज्जनों का कल्याण करेंगे। हे ब्रह्मचारियो! जैसे हम इस ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान कर सुख स्वरूप और जनता के सेवक बनते हैं, ऐसे तुम भी वनो!

"अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीजागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्यान्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एतेहीद ९ सर्वमाददते।"

"तं चेदेतस्मिन्वयसि किञ्चिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इंद मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्येयज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धेव तत पत्यगदो हैव भवति।"

३—और उत्तम ब्रह्मचर्य—जैसे ४८ अक्षरों का जगती-छन्द होता है, वैसे ही जो पुरुष इस प्रकार के ब्रह्मचर्य-व्रत का नियमपूर्वक साधन करता है, उसके प्राण आदित्य रूप होकर सद्गुणों का प्रकाश करते हैं।

यदि हम प्रथम वय में इस कहे हुए ब्रह्मचर्य का यथोचित पालन करेंगे, तो हमारे प्राण आदित्य रूप होकर शरीर में ज्ञान का प्रकाश करेंगे। अतः हे ब्रह्मचारियो! जिस प्रकार हम ब्रह्मचर्य

से रह कर दीर्घजीवी हो, संसार में विद्या की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार तुम भी करो।

१४—मरुत् और साध्यपद-ब्रह्मचारी

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।

(छान्दोग्योपनिषत्)

जो पुरुष ४८ वर्ष से ऊपर के ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, और चौथे वेद (अथर्व) का अध्ययन करते हैं, उन्हें 'मरुत् ब्रह्मचारी' कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी का मुख चन्द्रमा की भाँति शोभित होता है और वे जो कुछ खाते या पीते हैं, उसमें कामना नहीं रखते। वे केवल अमृत-स्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) का साक्षात्कार कर तृप्त रहते हैं।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति।

वे मरुत् नाम के ब्रह्मचारी इसी ब्रह्म का चारों ओर अनुभव करते और इसी की कृपा से सर्वत्र कामचारी होते हैं।

अथ पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

(छान्दोग्योपनिषत्)

जो पुरुष जीवन भर ब्रह्मचर्या में लीन रहते हैं, और साङ्गोपाङ्ग चारों (ऋग्यजुसाम और अथर्व) वेदों का अध्ययन करते हैं, 'साध्य-पद-प्राप्त ब्रह्मचारी' कहलाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी का मुख-

मण्डल ब्रह्म के समान तेजस्वी होता है और वे न तो कुछ खाते हैं, न पीते हैं, वरन् अमृतमय ब्रह्म में ही लीन होकर तृप्त होते हैं।

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।

वे साध्यपद प्राप्त ब्रह्मचारी इसी ब्रह्म (परमात्मा) का सर्वत्र अनुभव करते हुये ज्ञान के प्रभाव से प्रकाशित होते हैं ।

१५—ब्रह्मचारी की भिक्षा

"सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं, भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः ।"

(महामान्य हारीत)

ब्रह्मचारी अपने भोजन के लिये सन्तोषपूर्वक सायं और प्रातःकाल भिक्षा माँगे ।

"इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवञ्च।"

(अथर्ववेद)

पहले पहल ब्रह्मचारी ने विस्तृत भौतिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान की भिक्षा माँगी ।

गुरुकुल में रहने की अवस्था में ब्रह्मचारी अपने आचार्य का अन्न नहीं ग्रहण करता । वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से अन्य स्थानों से भिक्षा माँग लाता है । इस भिक्षा का बड़ा महत्व है । इसे वह पहले पहल लाकर अपने आचार्य को समर्पित करता है । उसका आचार्य उसमें से जो कुछ दे देता है, उसे खाकर प्रसन्नतापूर्वक वह अपना जीवन व्यतीत करता है ।

प्रचीन काल में प्रायः सब के पुत्र गुरुकुलों में पढ़ने जाते थे, और भिन्न-भिन्न घरों से भिक्षा माँगते थे । इस लिये सब घरों

की मातायें और बहिनें उत्तमोत्तम पदार्थ, जो ब्रह्मचारी द्वार पर आ जाता था, उसे दे देती थीं। वे यह समझती थीं कि इसी प्रकार हमारा पुत्र और भाई भी दूसरों के द्वार पर जाकर भिक्षा माँगता होगा। अतएव इस प्रकार के सद्भाव से सभी ब्रह्मचारी सुखी रहते थे और उन्हें भिक्षा के लिये विशेष कष्ट नहीं करना पड़ता था। जो कुछ उन्हें प्राप्त हो जाता था, उसे ही लेकर चले जाते थे।

भिक्षा में मिली हुई सम्पूर्ण वस्तु गुरु को समर्पित कर देने का यह अभिप्राय था कि ब्रह्मचारी जिह्वा-लोलुप न हो जाय। उसके पास सब सामग्री रहने से वह अधिक भोजन कर जायगा और इससे रोग उत्पन्न होगा तथा उसके विद्याध्ययन में विघ्न पड़ेगा। वह स्वार्थी बन जायगा और भोजन को ही सब कुछ समझ बैठेगा। इससे ब्रह्मचर्य-व्रत में हानि हो जायगी।

अब हम भिक्षा के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी के लिये उपयोगी नियमों का वर्णन करते हैं:—

१—वेदज्ञ, यज्ञकर्त्ता और धर्मात्मा पुरुषों के घर से सदा भिक्षा लाना योग्य है। इस लिये कि सज्जनों के यहाँ से पवित्र और सात्विक पदार्थ ही दिया जाता है, जिससे स्वास्थ्य और मन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

२—आचार्य कुल स्वजाति और सम्बन्धियों के यहाँ से भिक्षा न लानी चाहिये। इसलिये कि इन स्थानों में जाने से सङ्कोच होता है, जान-पहचान के कारण विशेष समय नष्ट होता है तथा अपमान का भी भय रहता है।

३—नीरोग रहने की दशा में एक सप्ताह तक भिक्षा माँगने

न जाने से ब्रह्मचारी को प्रायश्चित्त रूप में 'अवकीर्णि व्रत' करना पड़ता है। यह इसलिये कि असावधानी, प्रमाद और आलस्य उसमें न आने पावे।

४—एक ही घर का अन्न न लेकर, भिन्न-भिन्न घरों से भिक्षा ग्रहण करना उचित है। इसका अभिप्राय यह है कि एक ही गृहस्थ पर अधिक भार न पड़े, जिससे कि उसको भिक्षा देने की श्रद्धा घट जाय।

५—दुष्ट, पातकी और अभिमानी के घर से भिक्षा लेने की अपेक्षा निराहार मर जाना भी उचित है। यह इसलिये कि अधर्मियों का अन्न अपवित्र तथा अभक्ष्य होता है। उसके ग्रहण करने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और रोग उत्पन्न करता है, जिससे ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होने का भय रहता है।

१६—ब्रह्मचारी के तीन प्रकार

"ब्रह्मचारी ष्णंश्चरति रोदसी इमे।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान का अर्जन करके प्रचार करता है।

"ब्रह्म ब्रह्मचारिभि रुदक्रामत्।"

ब्रह्मचारी से ही ब्रह्मज्ञान का प्रकाश होता है।

छान्दोग्योपनिषद् में महत्व की दृष्टि से ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार माने गये हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। पहले में २४ वर्ष, दूसरे में ४४ वर्ष और तीसर में ४८ वर्षों का विधान है।

इस भाँति ब्रह्मचारी भी तीन प्रकार के होते हैं। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम।

कनिष्ठ ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने पर ब्रह्मचारी की वसु संज्ञा होती है। 'वसु ब्रह्मचारी' के कहे जाने का अभिप्राय यह है कि २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य से वह परम ऐश्वर्यशाली हो जाता है। मध्यम ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने पर ब्रह्मचारी की रुद्र संज्ञा होती है। 'रुद्र ब्रह्मचारी' कहने का तात्पर्य यह है कि ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य से अत्यन्त पराक्रम प्राप्त होता है। और उत्तम ब्रह्मचर्य के सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी की आदित्य संज्ञा होती है। 'आदित्य ब्रह्मचारी' कहने का आशय यह है कि ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य से वह उत्कट तेजस्वी हो जाता है।

वसु ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य, रुद्र ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य और पराक्रम और आदित्य ब्रह्मचारी को ऐश्वर्य, पराक्रम तथा तेज—तीनों प्राप्त होते हैं। वैश्य को वसु, क्षत्रिय को रुद्र और ब्राह्मण को आदित्य ब्रह्मचारी बनाना चाहिये।

वसु ब्रह्मचारी के मुख पर इन्द्र की सी कान्ति, रुद्र ब्रह्मचारी के मुख पर महादेव की सी गुरुता और आदित्य ब्रह्मचारी के मुख पर सूर्य की सी ज्योति होती है।

इस समय जनता में एक भी ऊपर कहे गये तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों में से नहीं दिखाई पड़ता। भारतवर्ष के अधःपतन का इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है। यदि पुनः प्राचीन ब्रह्मचर्य-प्रणाली का प्रचार हो जाय, तो आर्य-जाति के उद्धार में रञ्चमात्र सन्देह नहीं।

१७–ब्रह्मचारी के वर्जित कर्म

"गर्भो भूत्वाऽमृतस्ययोना विन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ।"
(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी ज्ञान के केन्द्रस्थान से बाहर निकला । अब वह उत्कट विद्वान होकर दुर्गुणों का दृढ़ता से संहार करने लगा ।

"तत्रास्य माता सावित्री, पिता त्वाचार्य उच्यते ।"
(मनुस्मृति)

गुरुकुल में सावित्री ब्रह्मचारी की माता और आचार्य पिता कहलाता है ।

ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना सरल काम नहीं । एक भी असावधानी होने से अनेक विघ्न खड़े हो जाते हैं । ब्रह्मचारी को वड़े आचार-विचार से रहना पड़ता है । इस लिये विद्वान ऋषियों ने संयम और सदाचार से रहने का शास्त्रों में विधान किया है ।

अब हम उन वर्जित कर्मों का वर्णन करते हैं, जिनके करने से ब्रह्मचारी पतित, उसका आत्मा निस्तेज और व्रत भङ्ग हो जाता है :—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च, गन्धं माल्यं तथा स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि, प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥

मधु और मांस न खाय—पुष्पों की माला न पहने—सुगन्धित द्रव्य का व्यवहार न करे—सरस भोजन न करे—स्त्रियों में न रमे—सिरका आदि न खाय और जीवों को न मारे ।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्र धारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च, नर्त्तनं गीतवादनम् ॥

शरीर में तेल लगाना, आँखों में अञ्जन देना, जूता और छाता धारण करना, काम, क्रोध, लोभ तथा गाना-बजाना वर्जित है।

द्यूतञ्च जनवादञ्च, परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

जुआ खेलना, किम्बदन्ती उड़ाना, निन्दा करना, असत्य बोलना, स्त्रियों को निहारना, और अङ्ग लगाना तथा दूसरे का अपकार करना मना है।

हस्त्यश्वारोहणं चैव, सन्त्यजेत्संजितेन्द्रियः।

ब्रह्मचारी हाथी और घोड़े आदि सवारी पर न चढ़े।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय-ग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति॥

माता, बहन वा पुत्री किसी के साथ एकान्त में न बैठना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान होता है, वह विद्वानों को भी अपनी ओर खींच ले जाता है।

एकः शयीत सर्वत्र, न रेतस्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धिस्कन्दयन् रेतो, हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

सर्वत्र अकेला सोवे। अपना वीर्य कभी कहीं स्खलित न होने दे। इच्छा से वीर्य का नाश करने से ब्रह्मचारी का व्रत नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भी ब्रह्मचारी के लिये बहुत से वर्जित कर्म हैं:—

गुरु की आज्ञा बिना बैठना—उनके सामने उच्चासन पर बैठे रहना—उनके परोक्ष में बिना आदर युक्त नाम लेकर उनका परिचय देना—उनकी निन्दा सुनना—उनके दोषों को कहना—

उनसे दूर रहना—स्त्रियों के समागम में बैठना—युवती गुरु-पत्नी के चरण छूकर प्रणाम तथा शृंगार करना एवं अध्ययन में आलस्य करना आदि वर्जित है।

काम क्रोधौ तथा लोभं, स्वादुश्रृंगार कौतुके।
अति निद्राति सेवे च, विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत् ॥

(चाणक्य-नीति)

काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, शृङ्गार, कौतुक, अति निद्रा और अति सेवा—ये आठ कर्म विद्यार्थी के लिये वर्जित हैं।

सुखार्थी चेत्यजेद्विद्यां, विद्यार्थी चेत्त्यजेत्सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या, सुखं विद्यार्थिनः कुतः ॥

(विदुरनीति)

सुख चाहने वाला विद्या को और विद्या का प्रेमी सुख को छोड़ दे। क्योंकि सुखार्थी को विद्या नहीं आती और विद्यार्थी को सुख नहीं मिलता।

आलस्यं मद मोहौ च, चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं, तथाऽत्यागित्वमेव च ॥

(विदुरनीति)

आलस्य, मद, मोह, चपलता, व्यर्थ बात चीत करना, चुप रहना, अभिमान करना और स्वार्थी होना—ये सात अवगुण विद्यार्थियों के माने गये हैं।

१८—ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य कर्म

"मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मिनिर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय।"

(अथर्ववेद)

मैं पाप-नाशक आचार्य का ब्रह्मचारी हूँ। मैं और लोगों से भी प्रार्थना करता हूँ कि वे दूसरे को भी (नवीन जीवन धारण करने के लिये) उसके पास भेजें।

"आचार्या ब्रह्मणो मूर्तिः।"

(मनुस्मृति)

आचार्य परमेश्वर का रूप है।

ब्रह्मचर्य के पालन में वर्जित कर्मों के छोड़ देने से ही व्रत की रक्षा होती है। सदाचार के नियमों के पालन से ही अकर्तव्यों का नाश हो सकता है। ब्रह्मचारी को एक तपस्वी समझना चाहिये। जिन कर्तव्यों से उसके जीवन में उत्साह, ज्ञान में वृद्धि और संसार में ख्याति होती है, उन्हीं का विधान प्रवीण शास्त्रकारों ने किया है।

अब हम धर्मशास्त्र-सम्मत ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य-कर्मों का वर्णन यहाँ करते हैं:—

यद्यस्य विहितं चर्म, यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यश्च वस्त्रनं, तत्तदस्य व्रतेष्वपि॥

उपनयन के समय जैसा मृग चर्म, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड और वस्त्र धारण कराया गया हो, उसी अवस्था में सदैव रहना चाहिये।

सेवेतेमांस्तु नियमान्, ब्रह्मचारी गुरौवसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं, तपो वृद्ध्यर्थ मात्मनः॥

ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में रख कर गुरु के समीप बतलाये गये कर्मों को व्रत की उन्नति के लिये करता रहे।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृ तर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनञ्चैव, समिदाधान मेव च ॥

सदैव स्नान करके पवित्रता से देव, ऋषि और पितरों का तर्पण तथा देव-पूजन और अग्निहोत्र करता रहे ।

उदकुम्भं सुमनसो, गोशकृन्मृत्तिका कुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि, भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥

जल का घड़ा, फूल, गोबर और कुश, जिस वस्तु की जितनी आवश्यकता हो, उतनी ही लावे । और निरन्तर भिक्षा मागने जाया करे ।

दूरादाहृत्य समिधः, सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥

दूर से समिधा (होम की लकड़ी) लाकर उत्तम स्थान पर धरे और उससे आलस्य-रहित होकर सायं और प्रातःकाल अग्नि-होत्र करे ।

स्वप्ने सिक्ता ब्रह्मचारी, द्विज शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वात्रिः, पुनर्मामितृचं जपेत् ॥

यदि बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्य गिर जाय तो, स्नान कर सूर्य भगवान् की पूजा के पश्चात् "पुनर्मामित्विन्द्रियम्०" नाम की ऋचा का जप करे ।

शरीरञ्चैव वाचञ्च, बुद्धीन्द्रिय मनांसिच ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥

शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय और मन को अधिकार में करके नम्रता-पूर्वक गुरु के सम्मुख रहा करे ।

कुर्याद्ध्ययनञ्चैव, ब्रह्मचारी यथा विधिः ।
विधिं त्यक्त्वा प्रकुर्वाणो, न स्वाध्याय फलं लभेत् ॥

ब्रह्मचारी को चाहिये कि नियम के साथ अध्ययन किया करे। क्योंकि बिना नियम के पढ़ने से उसका कुछ फल नहीं मिलता ।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यांगुरोर्हितम् ।
आसमावर्त्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥

यज्ञोपवीत किया हुआ ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने तक यज्ञ की समिधा और भिक्षा लाने में, पृथ्वी पर सोने तथा गुरु का हित करने में, लगा रहे ।

इन ऊपर कही गई बातों के अतिरिक्त और भी ब्रह्मचारी के कई कर्त्तव्य-कर्म इस प्रकार हैं:—

सूर्योदय से पहले उठ जाना—नित्य नियम से अध्ययन करना—पढ़ने के आदि और अन्त में गुरु को प्रणाम करना—सहपाठियों से प्रेम रखना—आचरण से गुरु को प्रसन्न रखना—अतिथियों का सत्कार करना—अवस्था में बड़े लोगों को—पहले माता-पितादि की सेवा करना, अभिवादन करना—अपने ब्रह्मचर्य का ध्यान रखना तथा साधुता और सरलता युक्त रहना ही कर्त्तव्य है ।

१९—आचार्य के कर्त्तव्य

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।"

(अथर्ववेद)

आचार्य शिष्य के लिये पापनाशक, शान्तिदाता, जीवन सुधारक, रोग-निवारक और ज्ञान का उपदेशक होता है ।

"कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ।"

दुष्ट शिष्य को ज्ञानोपदेश करने से आचार्य को कैसे यश प्राप्त हो सकता है !

प्राचीन समय से इस देश में आचार्य का बड़ा महत्व माना गया है। गुरुकुल के अधिष्टाता होने के अतिरिक्त वह संसार का सुधारक है। मनुष्य-जाति का पतन और उत्थान का उत्तरदायित्व आचार्य पर है। बालक के लिये आचार्य से बढ़ कर कोई हितैषी होता ही नहीं। ऐसे पुरुष के लिये भी शास्त्रों में कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं। हम उनका सारांश यहाँ पर दे देना चाहते हैं:—

१—आचार्य को स्वयं ब्रह्मचारी होना चाहिये।

२—उसे सब छात्रों पर सम दृष्टि रखना योग्य है।

३—ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य और सदाचार पर पूर्ण रूप से ध्यान रखे।

४—अपने छात्रों से अधिकार के बाहर काम न ले।

५—नियमित तिथियों से अधिक अनध्याय (छुट्टी) की आज्ञा न दे।

६—विद्यार्थी की उन्नति-कामना के लिये निरन्तर उद्योग करता रहे।

७—आचार्य-पुत्र, सेवक, ज्ञानदाता, धार्मिक, पवित्र, आस्तिक, बलवान्, धनदाता, सरल स्वभावी और स्वजातीय—ऐसे दस प्रकार के शिष्य को पढ़ाना कर्त्तव्य है।

८—जिस विषय में उसे सन्देह हो, उसे बिना समझे विद्यार्थी को न पढ़ावे।

९—अशान्त चित्त होने के समय में कभी शिक्षा न दे।

१०—अग्निहोत्र और सन्ध्या-वन्दन में शिष्यों को भी साथ ले लिया करे।

११—ब्रह्मचारी को व्रत पालन के लिये उत्साहित करता रहे।

१२—विद्यार्थियों के कार्य और आचरण से उनकी योग्यता की परीक्षा करता रहे।

१३—आचार्य को लोभी, क्रोधी, विषयी, असत्य भाषी, परनिन्दक, असहिष्णु और द्वेषी न होना चाहिये।

१४—बिना प्रभाव और स्नेह के शिष्यों को विद्वान् नहीं बनाया जा सकता।

१५—ब्रह्मचारी को आज्ञाकारी बना लेना उसका प्रथम कर्त्तव्य है।

२०—अष्ट मैथुन-निषेध

"आयुर्वीर्यं यशश्चैव, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया।"

मैथुन (अब्रह्मचर्य) से आयु, वीर्य तथा यश की हानि होती है।

ब्रह्मचर्य जैसे महाव्रत के नाश करनेवाले दुरुपाय का नाम 'मैथुन' है। मैथुन उस साधन को कहते हैं, जिससे किसी न किसी प्राकृतिक या अप्राकृतिक रूप से मनुष्य का वीर्य अपना स्थान छोड़ कर ज्ञात या अज्ञात अवस्था में बाहर निकल जाय। यही कारण है कि ब्रह्मचारियों के लिये शास्त्रों में मैथुन का निषेध किया गया है।

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः, प्रेक्षणं गुह्य भाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च, क्रिया-निष्पत्तिरेवच॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं, प्रवदन्तिमनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यं, मेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

(दक्ष-संहिता)

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, अवलोकन, गुप्त भाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रिया-निवृत्ति—ये मैथुन के आठ अङ्ग विद्वानों द्वारा निर्धारित किये गये हैं।

इन आठ लक्षणों से परे रहना 'सिद्ध ब्रह्मचर्य' कहलाता है।

१—स्मरण—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष देखी या सुनी हुई स्त्रियों के रूप-लावण्य का ध्यान करना।

२—कीर्त्तन—स्त्रियों के गुण, स्वरूप और सुख की कथा कहना, या तो तत्सम्बन्धी गान करना।

३—केलि—स्त्रियों के साथ नाना प्रकार के खेल—जैसे, फाग आदि खेलना।

४—प्रेक्षण—किसी स्त्री को काम-दृष्टि से बारबार देखना और सङ्केत करना।

५—गुह्य भाषण—स्त्रियों के पास जा कर गुप्त रूप से भोगेच्छा प्रकट करने वाली बातें करना।

६—सङ्कल्प—स्त्रियों को देख कर या उनके चरित्र सुन कर उनके पाने का धारणा मन में लाना।

७—अध्यवसाय—स्त्रियों के सहवास में आनन्द का अनुमान कर उसके पाने के लिये प्रयत्न करना।

८—क्रिया-निवृत्ति—स्त्रियों के मोह-जाल में फँस कर उनसे सम्भोग करना।

इन आठ प्रकार के मैथुनों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा

तीसरे से चौथा, चौथे से पाँचवाँ, पाँचवें से छठाँ, छठें से सातवाँ और सातवें से आठवाँ अत्यन्त भयङ्कर है। एक भी मैथुन में फँस जाने से मनुष्य सम्पूर्ण मैथुन में प्रवृत्त हो जाता है। इनमें प्रत्येक मैथुन का अन्तिम परिणाम वीर्य-नाश होता है। इन मैथुनों के प्रभाव से वीर्य के कण अपने स्थान से विच्युत होकर अण्डकोष में पहुँच जाते हैं, जो अवसर पाकर अवश्य बाहर हो जाते हैं। इसीलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि इन आठ प्रकार के मैथुनों से अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा करता रहे।

हमारे मत से आठ प्रकार के मैथुनों से बँचने के लिये आठ प्रकार के संयम की आवश्यकता होती है। इसलिये जिन आठ प्रकार के सुसाधनों से ब्रह्मचर्य की रक्षा हो, वे भी ब्रह्मचर्य के ही समान हैं। अतः इस प्रकार आठ प्रकार के मैथुन करने के विरोधक भाव आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य हैं। ब्रह्मचर्यावस्था में इन आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

२१—वेदाध्ययन-विचार

"तस्माद्वेदव्रतानीह, चरेत्स्वाध्याय-सिद्धये।"

(हारीतस्मृति)

ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने अध्ययन की सिद्धि पाने के लिये वेद में कहे गये नियमों का पालन करे।

"सदाधार पृथिवीं दिवञ्चास आचार्यं तपसा पिपर्त्ति।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान को धारण करता है; वह अपने इस तप से आचार्य की प्रसन्नता का कारण होता है।

ब्रह्मचर्याश्रम और वेदाध्ययन का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। गुरुकुल में भेजने का अभिप्राय ही यह है कि बालक वेद की शिक्षा प्राप्त करे। सुबोध आचार्य की संरक्षकता में वेदों के जानने का विधान शास्त्रकारों ने किया है। ब्रह्मचारी होने का प्रधान उद्देश्य वेदारम्भ माना गया है।

यह बात सब को विदित है कि वेदों में सब प्रकार की विद्यायें, मनुष्य-जाति को सुख देने वाली भरी हुई हैं। इस भूमण्डल में वैदिक साहित्य सब से श्रेष्ठ और प्राचीन माना गया है। जो वेदों का ज्ञान प्राप्त करले, उसे विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके लिये सब सुलभ हो जाता है। हमारे ऋषि-मुनि लोग इन्हीं वेदों के बल पर देश तथा धर्म की रक्षा और उद्धार करते थे।

गुरुकुलों में आचार्य, वेद तथा उसके परिचय कराने वाले वेदाङ्गों का परिचय करा देता था। जैसे सूर्य का प्रकाश धारण कर चन्द्रमा प्रकाशित होता है, वैसे ही शिष्य भी अपने गुरु से ज्ञानार्जन कर कुल और जाति को आनन्दित करता है। वास्तव में वेदाध्ययन का प्रयोजन यही है कि गृहस्थाश्रम सुखमय बने।

अब हम आचार्य मनु के मत से वेदाध्ययन के काल और प्रकार का वर्णन कर देना चाहते हैं:—

षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं, गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकंवा, ग्रहणान्तिक मेव वा॥

गुरुकुल में ब्रह्मचर्य से रहकर ३६ वर्ष में तीनो वेदों (ऋग्,

यजु और साम) को पढ़े। अर्थात् १२ वर्षों तक एक वेद की शाखा का विधान है। १८ वर्षों में या ९ वर्षों में भी तीनों वेद पढ़े जा सकते हैं। अर्थात् ६ या ३ वर्षों में एक वेद की शाखा को समाप्त करे।

वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथा क्रमम्।
अविप्लुतो ब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत् ॥

तीन, दो या एक वेद विधि-पूर्वक पढ़कर अखण्डित ब्रह्मचर्य से गृहस्थाश्रम में पैर रखे।

३६ वर्षों में वेद पढ़ना उत्तम १८ वर्षों में मध्यम और ९ वर्षों में अधम माना गया है। ब्रह्मचर्यावस्था में ३, २ या १ वेद तो अवश्य पढ़ लेना चाहिये।

२२—ब्रह्मचारी-भेद

"ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः। स देवानां भवत्येकमङ्गम् ॥"

(ऋग्वेद)

ब्रह्मचारी उत्तम कर्मों के साथ अपने व्रत का पालन करता है। अतएव वह देवों का एक अङ्ग बन जाता है।

"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपनी विद्या, कटिबद्धता, परिश्रम-शीलता और सहिष्णुता से संसार का उपकार करता है।

गुरुकुल के वास-भेद से ब्रह्मचर्य के दो प्रकार होते हैं। उप-कुर्वाण, और 'नैष्ठिक'। इसलिये ब्रह्मचारी भी दो प्रकार के ठहरे।

उपकुर्वाण की अवस्था एक नियमित काल तक रहती है। उसकी समाप्ति हो जाने पर, गृहस्थाश्रम में पदार्पण किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य-पालन, गुरु-सेवा, विद्याध्ययन के पश्चात् गुरु-दक्षिणा देने तक, वह ब्रह्मचारी उपकुर्वाण कहलाता है।

"अविप्लुत ब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत्।"

(धर्माचार्य मनु)

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर लेने पर गृहस्थाश्रम में वास करे।

अब हम उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के शास्त्रोक्त कर्त्तव्य-कर्मों का वर्णन करते हैं। इनके पालन से ही वह अपने महाव्रत में सिद्धि पा सकता है:—

१—गुरु की आज्ञा का पालन तथा उसकी सेवा करता रहे।

२—मन लगाकर विद्याध्ययन करने में सावधान रहे।

३—भिक्षा माँगकर सात्विक प्रकार से अपना जीवन निर्वाह करे।

४—ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिये सदैव उपाय करता रहे।

५—अपनी उन्नति का सर्वदा मनन और चिन्तन किया करे।

जो ब्रह्मचारी अपने व्रत के महत्व को समझ लेता है—जिसका मन वेदाध्ययन से संयमित बन जाता है—जिसकी इच्छा प्रकृति के अनुराग में लग जाती है—ज्ञान देने के कारण गुरु ही जिसका सर्वस्व हो जाता है और संसार से वैराग्य हो जाता है—वह जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है। उसीको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। उसके लिये यह आज्ञा है:—

"न विवाहो न सन्यासो, नैष्ठिकस्य विधीयते।"

(महामान्य हारीत)

नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये न तो विवाह और न सन्यास का विधान है।

अब हम नैष्ठिक ब्रह्मचारी के उन कर्त्तव्य-कर्मों का वर्णन कर देना चाहते हैं, जिनसे उनका जन्म सार्थक होता है:—

१—गुरु के सत्सङ्ग में ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्याध्ययन करता रहे।

२—गुरु के न रहने पर उसके विद्वान पुत्रों के समागम में आध्यात्मिक विचार करता रहे।

३—गुरु-पुत्रों के अभाव में उसकी पत्नी का पालन-पोषण धर्म-युक्त करता रहे।

४—यदि गुरु-पत्नी भी न हो, तो गुरु-कुल वासियों के साथ रहे।

५—सबके अभाव में यज्ञानुष्ठान करता रहे।

२३—गुरु-दक्षिणा-प्रकरण

"आचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥"

(अथर्ववेद)

आचार्य वरुण (सुखदायक) बनकर जनता के हितार्थ, जो दक्षिणा माँगता है, ब्रह्मचारी उसे अपने आत्मबल से मित्र (सहायक) होकर देता है।

"गुरु-शुश्रूषया त्वेव, ब्रह्मलोकं समश्नुते।"

(मनुस्मृति)

गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

गुरुकुल में विद्याध्ययन के समाप्त हो जाने पर, विद्यार्थी को घर जाने की आज्ञा मिलती है। उस समय वह अपने गुरु को सन्तुष्ट रखने के लिये उसकी इच्छा के अनुकूल, जो कुछ प्रदान करता है, उसको 'गुरु-दक्षिणा' कहते हैं। इस दक्षिणा का बड़ा महत्त्व है। प्राय: अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

प्राचीन समय में गुरु-दक्षिणा शिष्टाचार का एक अङ्ग था। गुरु के उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये, ब्रह्मचारी उससे गुरु-दक्षिणा देने की प्रार्थना करता था। गुरु भी उसकी विनय-शीलता और आज्ञा-पालन से प्रसन्न हो कर उसे जनता के उपकार का आदेश देता था। यही उसकी दक्षिणा थी। और पहले के आचार्यों को किसी प्रकार की इच्छा या आवश्यकता नहीं रहती थी। गुरु की जो आज्ञा होती थी, उसे पालन करने की ब्रह्मचारी प्रतिज्ञा करता था, और उसका आशीर्वाद प्राप्त कर संसार में प्रविष्ट होता था।

शङ्कराचार्य के गुरु कुमारिल भट्ट ने अवैदिक-धर्म का खण्डन और सनातन-धर्म के मण्डन की दक्षिणा माँगी थी, जिसे उन्होंने (शंकराचार्य) जीवन भर पालन कर दिखलाया। स्वामी दयानन्द के आचार्य विरजानन्द ने उन्हें जनता में वेद तथा सत्य-धर्म के प्रचार का आदेश किया था, जिसे उन्होंने पालन कर दिखलाया।

गुरु-दक्षिणा ब्रह्मचारी के लिये एक अन्तिम कर्त्तव्य माना गया है। अतएव धर्मशास्त्र के अनुसार हम उसका भी वर्णन करते हैं:—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः,शक्त्यागुर्वर्थमाहरेत्॥

ब्रह्मचर्यावस्था में धर्म का जाननेवाला, गुरु को कुछ भी न दे। पर ब्रह्मचर्य का पालन कर 'स्नातक' हो जाने पर वह जो आज्ञा दे, यथाशक्ति उसे वह दक्षिणा दे।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं, छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकञ्च वासांसि, गुरवे प्रीतिमावहेत्॥

पृथ्वी, सोना, गाय, अश्व, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र—जो कुछ दे सके, गुरु की प्रसन्नता के लिये समर्पित करे।

जो ब्रह्मचारी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अपने आचार्य को उसकी माँगी हुई वस्तु देकर प्रसन्न करता है, उसकी विद्या में वृद्धि होती है, और उसी से जन-समाज का कल्याण-साधन हो सकता है।

२४—समावर्त्तन-संस्कार

"स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी विद्या पढ़ लेने पर स्नातक होता है। इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी होकर संसार में सम्मान पाता है।

"राज-स्नातकयोश्चैव, स्नातको नृपमान भाक्।"

राजा और स्नातक दोनों में राजा की अपेक्षा स्नातक विशेष मान्य है।

"गुरवे दक्षिणां दद्यात्संयमी ग्राममावसेत्।"

(हारीत-स्मृति)

वेदाध्ययन समाप्त होने पर गुरु को दक्षिणा देकर जितेन्द्रियता से ग्राम में निवास करे।

उपनयन-संस्कार से ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ और समावर्त्तन-संस्कार से उसकी समाप्ति होती है। उपनीत होकर ब्रह्मचारी गुरु-कुल में प्रविष्ट होता है, और स्नातक होकर उससे बाहर निकलता है। इस संस्कार में ब्रह्मचारी को तीर्थों के जल से स्नान कराया जाता है और तब से उसको 'स्नातक' कहा जाता है।

"सब्रह्मचारी यो विद्या-व्रत-स्नातः।"

(छन्दोग्योपनिषद्)

वह ब्रह्मचारी है, जिसने विद्याव्रत रूपी तीर्थों के जल में स्नान किया हो।

इस संस्कार के समय गुरु को यथा-शक्ति दक्षिणा दी जाती है, और गुरु उस ब्रह्मचारी के आयुर्बल, यशःप्रसार, ज्ञानगौरव और धनधान्य का आशीर्वाद देता है।

इस संस्कार से ब्रह्मचारी अपने आचार्य के संरक्षण से पृथक् होता है। अधिक समय के एक साथ रहने से दोनों में अत्यन्त अभिन्नता हो जाती है। अतएव मोह के बन्धन को तोड़ कर आचार्य उसे गृहस्थाश्रम में जाने और अपना कर्त्तव्य पालन करने का उपदेश इस समय भी देता है:—

१—प्रमाद में पड़ कर ब्रह्मचर्य-व्रत का दुरुपयोग न करना।

२—अपनी विद्या और बल से लोक-सेवा में सदा लगे रहना।

३—पञ्चमहायज्ञ में कभी भ्रान्ति से असावधानी न करना।

४—माता-पिता तथा कुटुम्ब के भरण-पोषण को अपने हाथ में लेना।

५—सुप्रजा उत्पन्न करने के लिये विधि-पूर्वक विवाह करना।

६—सदाचारी और उत्तम पुरुषों का सङ्ग करना।

७—धर्म तथा धन का सञ्चय करते रहना।
८—अधर्ममूलक व्यवसाय में कभी न लिपटना।
९—क्रोध, मोह, लोभ, भोग और दर्प से दूर ही रहना।
१०–गृहस्थाश्रम को नियत समय तक सुखमय बनाते रहना।

२५—विवाह-विधान

"ब्रह्मचर्यं समाप्याय, गृहधर्मं समाचरेत्।"

ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर गृहस्थ-धर्म का पालन करना योग्य है।

उद्वहेत द्विजोभार्यां, सवर्णां लक्षणान्विताम्।"

(मनुस्मृति)

स्नातक को चाहिये कि सवर्णा और सुलक्षणों वाली कन्या से विवाह करे।

ब्रह्मचारी वीर्य-रक्षण सहित ज्ञानार्जन कर लेने पर, गुरु की आज्ञा से स्नातक होकर घर आता है। उस अवस्था में उसके पिता या उसके समान अधिकारी उसका सत्कार करते हैं। इसके अनन्तर विवाह का समय आता है। वर अपने सम्बन्धियों के साथ कन्या के पिता के यहाँ पहुँचता है। कन्या-पक्ष से उसका द्वार—पूजन (स्वागत) होता है, तदनन्तर 'जनवास' दिया जाता है। विवाह के निश्चित समय पर वर विवाह-मण्डप में जाता है। कन्या का पिता उसका 'मधुपर्क' अर्थात् उत्तम पदार्थों से सत्कार कर बैठाता है। फिर अग्निदेव का स्थापन कर वर, वधू का पाणि-ग्रहण कर इस प्रकार कहता है:—

मैं तुझे अपनी पत्नी बनाता हूँ। तू उत्तम सन्तान वाली हो। मेरे साथ तुझे भी दीर्घ जीवन प्राप्त हो। अर्यमादि देवों ने गृहस्थाश्रम के लिये तुझे प्रदान किया है। तेरी शुभ दृष्टि हो—तुझसे पति का हित हो—पशुओं का कल्याण हो—तू मनोहर हृदय और नेत्रवाली हो। तेरे पुत्र जीवित और पुरुपार्थी हों। तुझसे सब को सुख प्राप्त हो।

फिर वर वधू से हवन कराता है और वह पति के दीर्घ-जीवन एवं सम्बन्धियों के सुख की प्रार्थना करती है। तदनन्तर 'सप्तपदी' होती है। इसमें वर वधू को साथ लेकर सात वार फेरी करता है, और उससे अपने अनुकूल रहने की प्रतिज्ञा कराता है। इसी समय से दोनों पति-पत्नी (दम्पति) बन जाते हैं। पश्चात् कन्या का पिता भी वर से निम्नलिखित प्रतिज्ञा कराता है:—

यस्त्वया धर्मश्चरितव्यः सोऽनयासह।
धर्मे चार्थे च कामे च, नाति चरितव्या॥

जो कुछ सत्कर्म करना हो, इस (कन्या) की सहकारिता से करना—धर्म, अर्थ और काम में इसके विरुद्ध आचरण न करना।

इस पर वर भी उसकी बातों को बलपूर्वक इस प्रकार स्वीकार करता है:—

नाति चरामि, नातिचरामि नातिचरामि।"

मैं कभी इसके विरुद्ध आचरण नहीं करूँगा—नहीं करूँगा और नहीं करूँगा!

२६—गृहस्थ ब्रह्मचर्य

"ऋतुकालाभिगमनं, ब्रह्मचर्यमिवोच्यते।"

ऋतु काल में स्त्री-प्रसङ्ग करना भी ब्रह्मचर्य के बराबर माना जाता है। विवाह सम्बन्ध में देखिये, भारत के आधुनिक राष्ट्र-निर्माता महात्मा गान्धी जी क्या कहते हैं:—

"विवाह स्वेच्छाचार (असामयिक मैथुन) के लिये नहीं है। स्मृतियों में भी लिखा है कि दम्पति-नियम से रहते हुये, वे भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।"

विवाह मानवी सृष्टि के चलाने के लिए एक धार्मिक तथा स्वाभाविक कर्त्तव्य है। इसका विधिवत् पालन करने से गृहस्थाश्रम सुख और शान्ति का देने वाला होता है। इस के विरुद्ध जाने से दम्पति का जीवन अत्यन्त दुःख-कारक बन जाता है। विवाह का विधान बहुत प्राचीन तथा शास्त्रीय है। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में मनु महाराज यह आज्ञा देते हैं:—

"ऋणत्रय विमुक्त्यर्थं, धर्मेणोत्पादयोत्प्रजा।"

तीनों ऋणों (देव, ऋषि तथा पितृ) के बन्धन से छूटने के लिये धर्म-पूर्वक प्रजा का उत्पादन करे।

विवाह का उद्देश्य ही है कि धर्म-युक्त प्रजा उत्पन्न की जाय। गृहस्थाश्रम में भी पुरुष और स्त्री को संयम से रहने की शास्त्र में आज्ञा है। अब तो अज्ञानता के कारण गृहस्थाश्रम अत्यन्त दूषित हो रहा है। सुप्रजा उत्पन्न करना तो दूर रहा, विवाह होते ही कामवासनाओं को तृप्त करने का उद्योग होने लगता है। इस कुवृत्ति की साधना में सन्तान हो जाय, तो हो जाय; पर इसका

ज्ञान किस को रहता है। हम बल-पूर्वक कहते हैं कि ९५ शतक युवकों का गर्भाधान अनियमित रूप से होता है। इसे हम कैसे धर्म-पूर्वक कह सकते हैं। यही कारण है कि समाज की दिन पर दिन क्षीणता होती जाती है। अधर्म-युक्त प्रजा कभी अच्छी नहीं हो सकती। बहुत उचित कहा गया है:—

"सन्तानार्थैव मैथुनम्।"

केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही मैथुन का विधान है।

गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य का विधान है। जो पुरुष नियत समय पर सन्तान की अभिलाषा से स्त्री का समागम करता है, वह भी ब्रह्मचारी है। 'एकनारी ब्रह्मचारी' ऐसी कहावत है। पर एकनारी रहने पर भी मनुष्य पर-स्त्री सेवन न करने से भी व्यभिचारी माना जा सकता है; शास्त्र की आज्ञा है:—

"ऋतौभार्यामुपेयात्।"

ऋतुकाल में भार्या का सेवन करना धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि रजोदर्शन के पश्चात् स्त्रियाँ गर्भधारण कर सकती हैं। अन्य समय में केवल वीर्य-नाश होता है। इसलिये बाल-हत्या का महा पातक लगता है। मनु भगवान की आज्ञा है:—

"ब्रह्मचार्यैव भवति, यत्रतत्राश्रमे वसन्।"

ऋतुकाल की वर्जित रात्रियों को छोड़ कर स्त्री-सहवास करने वाला पुरुष जिस किसी आश्रम में हो—ब्रह्मचारी ही है।

इस वचन से भी गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन करना योग्य है। स्त्री समागम के पश्चात् गर्भ के लक्षणों का ज्ञान हो जाने पर, सन्तानोत्पत्ति के तीन वर्ष पश्चात् पुनः गर्भाधान करने की

शास्त्र आज्ञा देता है। फिर भी अयोग्य पुरुष और अयोग्य स्त्री को तो मैथुन की आज्ञा ही नहीं है। शास्त्रों में कहे गये नियमों के अनुकूल गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक किसी प्रकार की हानि नहीं होती। गृहस्थ ब्रह्मचारी भी विद्वान्, श्रीमान् और कीर्तिमान् हो सकता है।

२७—सदाचार की सौ शिक्षायें

अब हम इस शीर्षक के नीचे उन शिक्षाओं को देते हैं, जिन का पालन करने से गृहस्थाश्रम सुखमय बनाया जा सकता है:—

१—जो परमात्मा को सर्वदर्शी और अपने हृदय में रहनेवाला समझता है, वह पाप नहीं करता।

२—अभिमान करनेवाला पुरुष बहुत थोड़े दिनों में नाश को प्राप्त होता है।

३—ईश्वर केवल हमारे सुकर्मों में सहायता करता है। वह किसी के कुकर्म का सङ्गी नहीं।

४—वह परमेश्वर सब निराशों की आशा है। इसलिये उसे किसी भी अवस्था में भूलना योग्य नहीं।

५—जिसके हृदय में सद्भावना है, वह पुरुष कभी दुःखी नहीं हो सकता।

६—मानसिक कुधारणायें ही हमारे पतनका कारण बनती हैं।

७—जो कार्य जितनी ही दृढ़ता और सुचारुता से किया जाता है, उसमें उतनी ही सफलता भी मिलती है।

८—एक कर्त्तव्यशील मूढ़ भी एक अकर्त्तव्यशील विद्वान् से श्रेष्ठ है।

९—मनुष्य अपने उन्नत स्वभाव से ही अपने को उच्च पद पर नियुक्त करा सकता है।

१०—धन और स्वास्थ्य से भी सदाचार का मूल्य अधिक माना गया है।

११—सज्जनता का चिन्ह उस मनुष्य के सद्व्यवहार से प्रकट होता है।

१२—अपनी मानसिक सद्वृत्तियों को उन्नत तथा सुदृढ़ बनाने के लिये सदा चेष्टा करनी चाहिये।

१३—अपने गुणों के प्रभाव से पुरुष सर्वत्र पूजित होता है। वास्तव में गुण ही पूजा का स्थान है।

१४—चरित्र-गठन के लिये आदर्श पुरुषों का अनुकरण करना चाहिये।

१५—सच्चरित्रता और सद्व्यवहार से मनुष्य समाज और राज्य में महान् बनता है।

१६—अच्छे ग्रन्थों के पढ़ने से उतना लाभ नहीं होता, जितना कि उनमें कही गई बातों के पालन करने से होता है।

१७—मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सुख और स्वतन्त्रता है। इसी के लिये अनेक साधन किये जाते हैं।

१८—जीवन में उसी को अच्छी सफलता मिलती है, जा पुरुष वाल्यावस्था से ही अच्छे नियमों का अभ्यास करता है।

१९—ज्ञान के लिये सत्संग से काम लेना चाहिये।

२०—जो अपने सच्चरित्र से जनता को उपदेश देकर ऊपर उठाता है, वही महापुरुष कहलाने योग्य है।

२१—विद्या के साथ साथ नम्रता और सरलता होने से सोने में सुगन्धि हो जाती है।

२२—वही विद्वान् पुरुष है, जो दूसरों को अविद्या से छुड़ाने का उद्योग करे।

२३—सत्यता और स्पष्टवादिता से मनुष्य की स्वाधीनता का ज्ञान होता है।

२४—जो अपने मानसिक विचारों का स्वयं दास है, वह कभी उदार और उच्च नहीं हो सकता।

२५—बहुत विचार करने पर थोड़ा कार्य करना उचित है।

२६—नर-रत्नों को अपने सिद्धान्त से यमराज भी नहीं डगा सकते।

२७—अपनी प्रतिज्ञा और रीति को सदैव निभाने का प्रयत्न करना चाहिये।

२८—धर्म और ईश्वर से डरना चाहिये और पाप तथा दुष्टों से कभी न भय खाना चाहिये।

२९—निष्कलङ्क चरित्र, उच्च विचार और सरल व्यवहार से बढ़ कर इस संसार में कुछ है ही नहीं।

३०—सुख की इच्छा सबको है, पर उसके साधने के उपाय को कार्य-रूप में लाने में बहुत से लोग पीछे हट जाते हैं।

३१—निर्धनता और हीनता में भी कभी असत्य से लाभ न उठाना चाहिये।

३२—अपने आत्मा के प्रतिकूल चलना बड़ा भारी पाप है।

३३—दुष्टों की निन्दा से डर कर अपना सुकार्य या विचार न छोड़ना ही सत्साहस है।

३४—मधुर वचन से सारा संसार वश किया जा सकता है।

३४—सदाचारी और स्वार्थ-त्यागी पुरुप को ही सम्पत्ति मिलती है।

३५—स्वात्माभिमानी और पवित्र हृदयी पुरुष निर्धन होने पर भी सर्व-श्रेष्ट गिना जाता है।

३६—श्रमशीलता, कर्त्तव्यनिष्टा और नियमवद्धता से ही प्रतिभा उत्पन्न होती है।

३७—विद्यार्थियों के लिये उनका सव से बड़ा गुण सरल तथा शुद्ध जीवन है।

३८—एक क्षण भी समय व्यर्थ न खोना चाहिये। समय का आश्रय लेकर कार्य-साधन करना ही योग्य है।

३९—आडम्बर शून्य और सन्तोषी व्यक्ति वनने से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।

४०—सदाचारी विद्यार्थी का शारीरिक और मानसिक तेज बढ़ता जाता है।

४१—जीवन को सुविधा-सम्पन्न बनाने के लिये बुद्धिमान को चाहिये कि सतत परिश्रम करता रहे।

४२—विद्याध्ययन और पुण्य के सञ्चय में जो समय लगता है, वह फलद और सार्थक है।

४३—परोपकार और जाति-सेवा ही मनुष्यता का रूप है। इसके लिये सदा कटिवद्ध रहना धर्म है।

४४—ज्ञान और बल की सदा उपासना करनी चहिये। क्योंकि संसार में सब कुछ इन्हीं की सत्ता का हेतु है।

४५—सत्पुरुष और प्रेमी पुरुष दुःख में भी कभी दया और प्रेम नहीं छोड़ते।

४६—उदार और बुद्धिमान वैरी भी मित्रता के योग्य माना जाता है।

४७—न्याय, स्नेह, उत्साह, कर्तव्य, बुद्धि, विद्या और प्रेम जिस पुरुष में है, वह देव-तुल्य है।

४८—बहुत विचार कर मित्रता करनी चाहिये। सच्चे मित्रों से बढ़ कर संसार में कुछ भी सुख नहीं है।

४९—कुल की सुरीति तथा अपने अधिकारों की सदा रक्षा करनी चाहिये।

५०—देश, काल तथा पात्र का विचार करने वाला पुरुष सदा आनन्द की वंशी बजाता है।

५१—अपने दोषों का अनुभव होते ही उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करना कर्तव्य है।

५२—जो लोग हठ-वश उचित बातों को नहीं मानते, वे अन्त में काम बिगाड़ कर पछताते हैं।

५३—जब तक कुछ भी आशा है, उद्योग से हाथ न धो बैठना चाहिये।

५४—किसी से कभी वैर न करना ही परम चतुरता है।

५५—अत्यन्त कष्ट में भी धीरज का न छोड़ने वाला ही बिजयी होता देखा गया है।

५६—अप्रिय वचन कहने वाला पुरुष, सब के हृदय का काँटा बन जाता है।

५७—खलों से सर्वदा दूर रहना चाहिये।

५८—शास्त्रों के उद्देशों को न मानने वाला मनुष्य जीवन भर रोता रहता है।

५९—पिता, माता और आचार्य से सदा अपने हित की बात पूछनी चाहिये।

६०—भविष्य का विचार कर वर्तमान कार्य करने वाला पुरुष सीधा मार्ग पा जाता है।

६१—पुरुष के लिये एक पत्नीव्रत और स्त्री के लिये पतिव्रत ही सनातन और वैदिक धर्म है।

६२—अच्छे कर्मों के लिये कभी न मुख मोड़ना चाहिये। समय की गति कभी अनुकूल नहीं होती।

६३—जो परमार्थ में मन लगाता है, वह स्वार्थ भी सिद्ध कर सकता है। परमार्थ का पलड़ा स्वार्थ से बहुत भारी है।

६४—यदि आपके हाथ में अधिकार है, तो उसका सदुपयोग करना चाहिये।

६५—मुख से वही बात कहनी चाहिये, जो सुगमता से की जा सके।

६६—अपने अवगुणों पर कड़ा ध्यान रखना चाहिये। असावधानी से ये बढ़ जाते हैं, और मनुष्य को पतित कर देते हैं।

६७—उत्तम वस्तुओं और अच्छी शिक्षाओं का संग्रह करने वाला पुरुष, अवसर पड़ने पर अधीर नहीं होता।

६८—विचारशील और उत्तम पुरुष का नियम होता है कि वे सब की सौ सुनते हैं, पर अपनी एक ही करते हैं।

६९—भूतकाल के अपराधों पर पश्चात्ताप और भविष्य में वैसा न करने का प्रण करना चाहिये।

७०—माता-पिता, गुरु तथा सज्जनों का आदर करने वाला बालक ही विद्वान हो सकता है।

७१—नित्य नियम से विद्याभ्यास करने से शीघ्र सफलता मिलती है।

७२—जो बाल्यावस्था में विद्या और युवावस्था में धन नहीं एकत्र कर लेता, वह वृद्धता में बड़ा दुःख पाता है।

७३—बहुत सी बातों और ग्रन्थों के सुनने-देखने से अनुभव बढ़ता है।

७४—आत्म-मर्यादा कभी न खोनी चाहिये। यही पुरुष को सुख देती है।

७५—असफलता के कारण सत्कार्य का छोड़ना केवल कायरता है।

७६—यह जीवन एक प्रकार का युद्धक्षेत्र है, यहाँ वही विजयी हो सकता है, जो अपने कर्म-धर्म में सदा तत्परता दिखला सके।

७७—विद्या पढ़ने का अभिप्राय गुणों का संग्रह करना है। इससे परे अविद्या है।

७८—जिस जाति और जिस देश में जन्म हुआ है, उसके लिये कुछ न करना कृतघ्नता है।

७९—किसी प्रकार का अभ्यास करने से वह बढ़ता है, और न करने से घटता है। अभ्यासी शिष्य निरभ्यासी गुरु से बढ़ जाता है।

८०—काम और क्रोध, ये दोनों नरक में गिराते हैं। अतः सदा इन्हें दबाना चाहिये।

८१—किसी को दुर्वचन न कहना चाहिये। कड़ी बात बर्छी की भाँति हृदय में चुभ जाती है।

८२—पुरुषार्थी-उत्साही पुरुष कभी दरिद्री नहीं हो सकता और आलसी निरुत्साही मनुष्य कभी धनी नहीं हो सकता।

८३—यदि परमात्मा ने विद्या, शक्ति और धन दिया है तो अज्ञानी, निर्बल और दीन के लिये लगादो।

८४—अपने कुटुम्ब में अनैक्य न होने देने में ही सबका कल्याण है।

८५—प्रिय होने पर भी वे वस्तुयें त्याज्य हैं, जिनसे किसी प्रकार की मानसिक या शारीरिक हानि होती है।

८६—अपनी सत्कीर्ति को कभी भूल कर भी मैली न होने देने वाला ही पुरुष कुल का रत्न है।

८७—अनधिकार चेष्टा करना व्यर्थ है। अधिकारी को कुछ भी दुर्लभ नहीं।

८८—श्रेष्ठ पुरुष अपनी सरलता और सज्जनता से कभी पृथक् नहीं होते। यही उनकी श्रेष्ठता का मूल कारण है।

८९—दयालु और परोपकारी व्यक्ति का ही जीवन सार्थक होता है।

९०—शत्रु में भी यदि कुछ गुण हों तो उसे ले लेना ही बुद्धिमत्ता है।

९१—संसार के हित के लिये अपने सुखों पर लात मारने वाले ही एक दिन सब के पूज्य बनते हैं।

९२—पतित से पतित मनुष्य भी परमात्मा की शरण में जाने से पवित्र और पुण्यात्मा बन जाता है।

९३—आत्मिक बल का सञ्चय करने वाला पुरुष जो चाहे कर सकता है।

९४—विद्वान, उपदेशक तथा सच्चे साधुओं से अपने लाभ की बात पूछनी चाहिये।

९५—जो बात अपने को बुरी लगे उसका बोझ दूसरे के ऊपर न लादना चाहिये।

९६—बुद्धि-भ्रष्ट और आचरण रहित पुरुषों को सदा अपमानित होना पड़ता है।

९७—सदाचारी पुरुष कठिन से कठिन कार्य में सफलता पा जाता है। दुराचार ही दुःखों का मूल है।

९८—हमारे पूर्वज कैसे उन्नत थे—वे क्यों संसार का हित करते थे और उनका जीवन क्यों आदर्श था? इन सब बातों का सदा विचार करना चाहिये।

९९—देश, काल और बल का अनुभव तथा उचित कर्मों की योजना से कदापि न चूकना चाहिये।

१००—प्रत्येक मनुष्य अपने भले बुरे कर्मों का उत्तरदायी है; जो जैसा करता है, वैसा भरता है। यह सिद्धान्त अटल है!*

---

* विशेष शिक्षा के प्रेमी को लेखक का सुखमय सिद्धान्त पढ़ना चाहिये।

चतुर्थ खण्ड
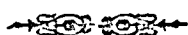
१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ॥
मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ।

(शतपथ ब्राह्मण १४, १, १, ३०)

हे प्रभो ! तुम हमें अधर्म-मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में चलाओ ! तुम हमें अन्धकार में न ले जाकर, प्रकाश में ले चलो !! और मृत्यु से दूर कर मोक्ष-सुख को प्रदान करो !!

तुम हमारे पथ-प्रदर्शक हो । तुम जिधर चाहो उधर ले जा सकते हो । नेता को अधिकार है कि वह अपने अनुयायी को जिस मार्ग से चाहे, ले जा सकता है । हमें सन्मार्ग से चलने की इच्छा है । हमें भय है कि हम अज्ञान-वश मूर्खता न कर बैठें । इसीलिये हमें ज्योति की आवश्यकता है । जब हमें मार्ग दिखलाई पड़ेगा, तब हम भ्रम में न पड़ सकेंगे । मृत्यु से तभी तक लोग डरते हैं, जब तक अमृत नहीं प्राप्त हो जाता । तुम अमृत के समुद्र हो । तुम्हारी दया होते ही हम अमरत्व को प्राप्त कर सकेंगे । ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये हम इसकी याचना करते हैं । तुम दयालु हो ! अतः हमारी अभिलाषा पूर्ण करो !!

२—कन्या और ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"

(अथर्ववेद)

ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् कन्या अपने योग्य युवक पति को प्राप्त करती है।

"कन्या सदा पालनीया, रक्षणीया च यत्नतः।"

(सूक्ति)

कन्या का सदैव पालन और उसका यत्न-पूर्वक संरक्षण करना चाहिये।

कुछ हठी और अज्ञानी पुरुषों का विचार है कि कन्याओं के लिये शास्त्र में ब्रह्मचर्य की आज्ञा नहीं दी गई है। ब्रह्मचर्य का पालन उसी के लिये है जो वेद पढ़ने का अधिकारी हो, पर कन्याओं को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। इसलिये वे ब्रह्मचर्य की भी अधिकारिणी नहीं।

वास्तव में यह विचार भ्रम-मूलक और समाज को दुराचार के समुद्र में डुबानेवाला है। हम बल-पूर्वक कहते हैं कि कहीं भी ऐसी किसी ऋषि-महर्षि ने आज्ञा नहीं दी है कि कन्यायें वेद न पढ़ें। वैदिककाल में बहुत सी ऐसी स्त्रियाँ थीं जो वेदों का अध्ययन करती थीं और ऋचाओं का अर्थ जानती थीं। सरस्वती और गायत्री की आज भी संसार में पूजा हो रही है। गार्गी, मैत्रेयी तथा अरुन्धती आदि स्त्रियाँ वेद जानती थीं और उनके चरित्र में भी हमें वैदिकता के प्रमाण मिलते हैं। फिर हम कैसे मान सकते हैं कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। जब उन्हें वेद

पढ़ने का अधिकार है, तब वे ब्रह्मचर्य के पालन से किस प्रकार विमुख रह सकती हैं।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ३९, ४० सूक्त में घोषा नाम की ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा प्रकट किये हुए मन्त्र हैं। उनमें स्पष्ट रूप से ब्रह्मचारिणी कन्या के वेदाध्ययन के समय से लेकर, उनके गृहस्थाश्रम में पैर रखने तक के प्रायः सभी कर्त्तव्यकर्मों का वर्णन है। फिर कैसे कहें कि स्त्रियाँ वेद पढ़ने और ब्रह्मचर्य पालन करने की अधिकारिणी नहीं।

बालकों के ब्रह्मचर्य-विषय में तो किसी को सन्देह ही नहीं, पर कन्याओं को भी ब्रह्मचर्य का पूर्ण अधिकार है। कोई वेद ऐसा नहीं जो इस बात का विरोध करता हो। हमारी इस बात का समर्थन-प्रमाण अथर्ववेद के एक मन्त्र से भी हो सकता है जो सबसे ऊपर दिया गया है।

यदि हम नीति-शास्त्र के अनुसार भी विचार करते हैं, तो भी कन्याओं के लिये ब्रह्मचर्य उतना ही आवश्यक जान पड़ता है, जितना कि बालकों के लिये। क्या एक ब्रह्मचारी और वेदज्ञ-पुरुष कभी भी एक ब्रह्मचर्य-रहिता और वेद-विहीना स्त्री से विवाह कर सकेगा?

कुमारीं शिक्षयेद् विद्यां, धर्म-नीतौ निवेशयेत्।
द्वयोः कल्याणदा प्रोक्ता, या विद्यामधि गच्छति॥

(हेमाद्रि)

कुमारी को विद्या पढ़ानी चाहिये। उसी भाँति धर्म और नीति में भी प्रवेश कराना योग्य है। जो कन्या विदुषी होती है, उससे दोनों कुलों का कल्याण होता है।

विद्या पढ़ाने का अभिप्राय साक्षरा बनाने से नहीं है, बल्कि योग्य बनाने से है। वही कन्या विद्याध्ययन कर सकती है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करे। जब तक वह ब्रह्मचारिणी तथा अविवाहिता है, तब तक वह नाना प्रकार की विद्यायें और कलायें सीख सकती है। गोभिल आदि गृह्य सूत्रों में भी कन्या के ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट रूप से आई है।

यवनों के आक्रमण-काल में कन्याओं को बचाने के लिये पाराशरी और शीघ्रबोध में "अष्ट वर्षा भवेद्गौरी, नव वर्षा च रोहिणी" जैसे पाठ गढ़ दिये गये थे, जो आज तक प्रचलित हैं। इन फक्किकाओं के अनुकूल रजोदर्शन से पूर्व ही कन्याओं का विवाह हो जाता है और वे ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से परे रह जाती हैं। हमारे शरीर-शास्त्र के जानने वाले महर्षि सुश्रुत ने भी कन्याओं को सोलह वर्ष तक के पहले विवाह करने के अयोग्य ठहराया है। अतएव जब तक वे अयोग्य हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कर ज्ञानवती बनें। इसके उपरान्त सुयोग्य वर से उनका विवाह होना चाहिये।

हमारे विचार से तो कन्याओं के लिये ब्रह्मचर्य-पालन बालकों से भी नितान्त आवश्यक और शास्त्र-सम्मत है। क्योंकि उन पर संतानोत्पत्ति सम्बन्धी संसार का बड़ा भारी उत्तर-दायित्व है।

वर्त्तमान भारत के आचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—

"बालक और बालिकाओं की पाठशाला दो कोस, एक दूसरे से दूर होनी चाहिये। बालकों की पाठशाला में अध्यापक तथा भृत्य आदि सभी पुरुष हों, और बालिकाओं की पाठशाला में सभी स्त्रियाँ होनी चाहिये। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का बालक

और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की बालिका न जाने पावे अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक पुरुष या स्त्री के दर्शन, स्पर्श, एकान्त सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर-क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग—इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"

इस प्रकार कोई भी सज्जन और विचारशील पुरुष कन्याओं के ब्रह्मचर्य-व्रत और विद्याध्ययन का विरोध नहीं कर सकता।

स्त्री के शरीर में साधारणतया १२ वर्ष की अवस्था में रज की उत्पत्ति हो जाती है और पुरुषों को प्रायः १५ वर्ष की अवस्था में वीर्यागम होता है। महर्षि सुश्रुत के मत से १६ वर्ष की कन्या और २५ वर्ष का बालक वीर्य के विचार से बराबर समझा जाता है। रजोदर्शन और वीर्योत्पत्ति के उपरान्त का समय ही वास्तविक ब्रह्मचर्य-काल है। इससे पूर्व नहीं। इस प्रकार स्त्री के ब्रह्मचर्य के ३ वर्ष का समय पुरुष के ब्रह्मचर्य के ९ वर्षों के बराबर होता है। अर्थात् स्त्री का १ वर्ष का ब्रह्मचर्य पुरुष के ३ वर्ष के बराबर हुआ।

३—ब्रह्मचारिणी का विवाह

"कन्यायां द्विगुणोवरः।

(सूक्ति)

कन्या की अवस्था से उसका वर द्विगुण अवस्था का होना चाहिये।

"कन्यानां सम्प्रदानञ्च, कुमाराणाञ्च रक्षणम्।"

(मनुस्मृति)

कन्याओं का दान और कुमारों का संरक्षण बहुत विचार कर करना योग्य है।

ऋतुमती होने के उपरान्त कम से कम ३ वर्ष तक प्रत्येक कन्या को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। १५ वर्ष से पहले विवाह का न होना ही श्रेयस्कर है, इस बात का प्रायः सभी शास्त्रकारों ने समर्थन किया है। यदि कोई यह कहे कि रजोदर्शन से पूर्व ही विवाह कर देना चाहिये, तो इस बात को हम अवैदिक समझते हैं।

समाज-सुधारक स्वामी दयानन्दजी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के विवाह-काल को इस प्रकार व्यवस्था देते हैं:—

"जो २५ वर्ष तक पुरुष ब्रह्मचारी रहे तो १६ वर्ष तक कन्या; जो पुरुष ३० वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे, तो स्त्री १७ वर्ष तक; जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहे, तो स्त्री १८ वर्ष तक जो पुरुष ४० वर्ष तक रहे तो स्त्री २० वर्ष तक रहै; जो पुरुष ४४ वर्ष तक; तो स्त्री २२ वर्ष तक और जो पुरुष ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य से रहे तो स्त्री २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का सेवन करे। अर्थात् ४८ वें वर्ष से आगे पुरुष और २४ वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिये। पर यह नियम विवाह करनेवाले पुरुष और स्त्रियों के लिये है। और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरण पर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकें, तो भले ही रहें, परन्तु यह कार्य पूर्ण विद्यावाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी पुरुष-स्त्री का है। यह बड़ा कठिन काम है कि काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रख सकें।"

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत, कुमार्युतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तुकालादेतस्माद्, विन्देत सदृशं पतिम्॥

(मनुस्मृति)

कन्या ऋतुमती हो जाने पर ३ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई, कुमारी रहे। इसके पश्चात् अपने योग्य (ब्रह्मचारी युवक) पति को वरे।

त्रीणि वर्षाण्युतुमती, कांक्षेतपितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षेतु, विन्देत सदृशं पतिम्॥

(बौधायन)

ऋतुमती कन्या ३ वर्ष तक पिता के संरक्षण में ब्रह्मचय का पालन करे। तत्पश्चात् चौथे वर्ष में अपने (वय और गुण में) योग्य पति से परिणय करे।

अज्ञात् पति मर्यादामज्ञातपतिसेवनाम्।
नोद्वाहयेत्पिता बालामज्ञातां धर्मशासनाम्॥

(हेमाद्रि)

पिता को चाहिये कि पति-मर्यादा, पति-सेवा और धर्म-शासन को न जाननेवाली तथा कम अवस्थावाली कन्या का विवाह न करे।

ततो वराय विदुषे, कन्या देया मनीषिभिः।
एषः सनातनः पन्थाः, ऋषिभिः परिगीयते॥

जब कन्या ब्रह्मचर्य का पालन कर ले, तो उसे विद्वान् वर को समर्पित करना चाहिये। यही सनातन मार्ग है और इसे ही ऋषि लोग मानते आये हैं।

मनु, व्यास, दक्ष, गौतम, शातातप, बौधायन तथा आश्वलायन आदि सभी प्राचीन धर्मशास्त्री लोग कन्या के ब्रह्मचर्य के समर्थक और छोटी अवस्था के विवाह के घोर विरोधी हैं। सभी के मत से ब्रह्मचारिणी रह कर ही कन्या को विवाह के लिये

आज्ञा दी गई है अर्थात् १५ वर्ष की आयु से पहले किसी ने भी कन्या के विवाह का समर्थन नहीं किया है।

ऋग्वेद में कन्या के विवाह के सम्बन्ध में एक प्रार्थना यह है कि हे अश्विनी कुमार! आप ऐसी दया कीजिये जब कि एक कन्या ब्रह्मवादिनी और ब्रह्मचारिणी रह कर, स्त्री के सब लक्षणों से युक्त हो जाय और वह सौभाग्यशालिनी अपना विवाह करना चाहे तब उसे तेजस्वी, सुन्दर और युवक वर मिले। वह वर पुरुषार्थी हो। उसके घर में स्नेह, माधुर्य तथा सौन्दर्य आदि का वास हो। विविध प्रकार के अन्न और धन से परिपूर्ण हो। जहाँ दया, दान और परोपकार आदि गुणों का बाहुल्य हो और रोगादि से रहित हो। अर्थात् उस स्त्री को सर्वगुणसम्पन्न युवावस्था को प्राप्त वर मिले।

विवाह का अभिप्राय पाठकों को पहले विदित ही हो चुका है। इसलिये जब तक वर-कन्या अयोग्य और ज्ञानहीन हैं, तब तक उनका विवाह करना परम मूर्खता और अनुचित पाप है।

४—ब्रह्मचारिणी देवियाँ

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री, संयुज्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा सा भवति, समुद्रेणेव निम्नगा॥

(मनुस्मृति)

स्त्री जैसे पति के साथ संयुक्त होती है, वैसे ही उसमें गुण आ जाते हैं। जैसे नदी समुद्र से मिलते ही उसके खारेपन को ग्रहण कर लेती है।

आत्मानमात्मना यास्तु, रक्षयुस्ताः सुरक्षिताः।

(मनुस्मृति)

जो स्त्री स्वयं ही अपने सतीत्व की रक्षा करती है, वही सुरक्षित रह सकती है।

पत्नी के लिये पति ही ब्रह्म है। उसके साथ नियमानुकूल आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। प्राचीन समय में इस हिन्दूजाति में अनेक सच्ची ब्रह्मचारिणी तथा सती देवियाँ हुईं हैं। पुराणों तथा अन्य कथा-प्रधान ग्रन्थों में उनके दिव्य-चरित्रों का वर्णन मिलता है। यहाँ हम कुछ की संक्षिप्त कथायें लिखते हैं। आशा है हमारी पाठिकायें भी उनका अनुकरण कर लाभ उठावेंगी।

ब्रह्मवादिनी घोषा—यह कक्षिवान मुनि की कन्या और उषिज की पौत्री थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३९,४० सूक्त इन्हीं पर प्रकट हुए थे। इन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया था और इसका उपदेश भी सबको करती थीं। इनके सिद्धान्तों का सार नीचे दिया जाता है:—

जो पुरुष स्त्री की प्राण-रक्षा में तत्पर रहे, उसे यज्ञ-कार्य में नियुक्त करे, उस पर प्रगाढ़ प्रेम रखे, उससे उत्तम सन्तान उत्पन्न करे, पितृयज्ञ के योग्य बनावे इन गुणों वाला वर ब्रह्मचारिणी को प्राप्त हो। ऐसे ही पति के मिलने से स्त्रियों को सुख होता है।

युवक स्वामी और युवती स्त्री के सहवास से जो आनन्द प्राप्त होता है उसे ब्रह्मचारिणी कन्यायें कुछ भी नहीं जान सकतीं। हे अश्विनी-कुमार! वह विषय हमें समझावें, अब हम स्त्री पर प्रेम रखनेवाले बलवान् और वीर्यवान् पति के घर जाना चाहती हैं।

ब्रह्मवादिनी सूर्या—यह ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८५ सूक्त की रचयित्री हुई है। यह सूक्त विवाह सम्बन्ध में वर्णित है। उनके उपदेशों का सार नीचे दिया जाता है:—

हे वहू! तेरे पति के घर में ऐसी वस्तुयें प्राप्त हों, जो प्रजा तथा तुझे प्रिय लगें। इस गृह में तू स्वामिनी बनने के लिये जागृत हो! इस पति के साथ संसर्ग कर और अज्ञात परमात्मा को ध्यान में रख कर, दोनों वृद्धावस्था तक परस्पर सुखभोग करते रहो।

हे परमात्मन्, तू इस वधू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बनाना। इसके गर्भ से १० सन्तान उत्पन्न करना और ग्यारहवें इसके पति को जीवित रखना। हे वहू, तू अपने सद्व्यवहार से ससुराल पर अधिकार जमाना, सास-ससुर को सेवा-शुश्रुषा से वश में रखना, ननदों पर राज्य करना और देवरों पर महारानी की भाँति शासन करना।

ब्रह्मचारिणी गोधा—यह ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मवादिनी थी और स्त्रियों को सदाचार की शिक्षा देती थीं। इनका सिद्धान्त था कि स्त्रियाँ भी वेद और शास्त्रों के अध्ययन में निपुणता प्राप्त करें। और पुरुषों से यह बात कहती थीं कि हम स्त्रियाँ पुरुषों को अधर्म में नहीं घसीटतीं। इसलिये हम निर्दोष अबलाओं का चरित्र मत भ्रष्ट करो। हमारे प्रति वही सदाचार का व्यवहार करो, जो कि वेदों में लिखा गया है। इस प्रकार से व्यभिचारियों को रोकती थीं।

देवी यमी—इन्होंने भी वेद की ऋचायें रची हैं। ये जनता को यम-नियम के पालन करने की शिक्षा देती थीं। इनका कहना

था कि धार्मिक पुरुषों और विद्वान् तथा गुणियों के आदर्श-चरित्र का अनुकरण करना चाहिये।

ब्रह्मवादिनी श्रद्धा—इनकी रची हुई ऋग्वेद में ५ ऋचायें हैं। जिनमें श्रद्धा की महत्ता गायी गई है। इससे यह सूचित होता है कि इनका सिद्धान्त था कि श्रद्धा से ही मनुष्यजाति का कल्याण हो सकता है।

सती सावित्री—सत्यवान् की पत्नी थीं। विवाह से पूर्व ही नारद जी ने उनके पिता से कहा कि जिनसे आप इसका विवाह करनेवाले हैं, वह थोड़े ही दिन जीयेगा। यह सुन कर उनके पिता ने दूसरे से उसका विवाह करना चाहा। पर ब्रह्मचारिणी सावित्री ने उन्हें ऐसा करने से रोका। अन्त में उनके हठ से उनका विवाह सत्यवान् से हो गया। कुछ दिनों में वन में उनका देहान्त हो गया। यमराज उसे लेने आये पर इस पतिव्रता ने प्रश्नोत्तर से उनके भी छक्के छुड़ा दिये। अन्त में हार मान कर इनके पति को जिलाना पड़ा।

देवी दमयन्ती—यह राजा नल की स्त्री थीं। इन्होंने स्वयं इनके साथ स्वयंवर स्वीकार किया। राजा नल अपना सारा राज्य-पाट जुये में हार गये। वन में ले जाकर इन्होंने पतिव्रता दमयन्ती को बड़ी बुरी दशा में छोड़ दिया और आप भाग गये। पर ये किसी प्रकार अपने पिता के घर पहुँचीं और मिथ्या स्वयंवर की बात रच कर पुनः नल से मिलीं। इतना होने पर भी उसने अपने प्यारे पति का प्रगाढ़ प्रेम नहीं छोड़ा।

सती सुलोचना—यह लङ्काधिराज रावण के महाबली पुत्र मेघनाद की पत्नि थीं। श्रीराम के छोटे भाई लक्ष्मण ने संग्राम में

उसे मार डाला था। उसकी एक भुजा जाकर सुलोचना के आगे गिरी। उसे सन्देह हुआ। अतएव उन्होंने कहा कि यदि मैं मन वचन तथा कर्म से पतिव्रता होऊँ तो यह भुजा मेरे अंचल पर लिखे कि मैं तेरा पति हूँ तभी मेरे मन में विश्वास होगा कि मेरे पति मारे गये।

ऐसा ही हुआ। उस भुजा ने यही बात लिख दी। फिर वे सब के समझाने बुझाने पर भी न रुकीं और अपने पतिका शीश श्रीरामचन्द्र के यहाँ से लेकर अग्नि-चिता में सती हो गईं।

सती माद्री—ये महाराज पाण्डु की पत्नी थीं। इन्होंने बहुत दिनों तक अपने पति की रक्षा के लिये ब्रह्मचर्य का पालन किया था। ये भी अपने पति के मरने पर पुत्रों को कुन्ती के अधिकार में रख पति के साथ सती हो गईं।

सती सुदक्षिणा—यह सम्राट् दिलीप की भार्या थीं। इन्होंने बहुत दिनों तक ब्रह्मचर्य से रह कर पुत्र के लिये महर्षि वशिष्ठ की गौ की सेवा की थी।

अभी अधिक दिन नहीं हुये कि यवनों के शासन-काल में हमारे देश की अनेक पतिव्रता और ब्रह्मचारिणी स्त्रियों ने धर्म के लिए अपने प्राण अग्निदेव को समर्पित किये थे।

सती सुकन्या—यह महर्षि च्यवन की पत्नी थीं। इनके पिता एक दिन वन में अहेर खेलने गये थे। वहीं च्यवन ऋषि तपस्या कर रहे थे। इस बालिका ने भ्रम वश उनके दोनों नेत्रों में काँटे गोद दिये। यह खबर उनके पिता को लगी। उन्हों ने अपनी पुत्री को महर्षि की सेवा के लिये समर्पित कर दी। कुछ दिनों के उपरान्त सुकन्या युवती हुई, पर अपने पति की सेवा करती

रही; अश्विनी कुमारों ने इसे अपने वश में करने के अनेकों प्रलोभन दिये, किन्तु इसका मन ब्रह्मचर्य से ज़रा भी न डिगा। अन्त में उन्होंने प्रसन्न हो कर च्यवन को अपने औषधोपचार से अत्यन्त सुन्दर युवक बना दिया।

कुछ लोगों का कहना है कि ब्रह्मचर्य-पालन का अधिकार केवल पुरुषों के ही लिये है, स्त्रियों के लिये नहीं। यह उनका निरा बाल-वाद है। परमात्मा ने पुरुष-स्त्री दोनों को एक ही गर्भ से उत्पन्न किया है। उन दोनों के जीवन का लक्ष्य भी एक ही बनाया है। दोनों को अपने शारीरिक, नैतिक और मानसिक विकास का समान अधिकार है, जो ब्रह्मचर्य से ही सिद्ध हो सकता है। फिर एक ही को क्यों ऐसा अधिकार मिलने लगा? स्त्रियों को ब्रह्मचर्य-पालन का अधिकार न देना, सभी दृष्टियों से घोर अन्याय और जघन्य पक्षपात ही समझा जायगा।

वपुता और धारिणी—श्रीमद्भागवत में लिखा है कि वपुता और धारिणी नाम की दो स्त्रियाँ थीं, जिन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा थी। इसलिये दोनों ने अपने को विवाह-बन्धनों से मुक्त रख कर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया और अन्त में उनको मोक्ष प्राप्त हुआ।

प्राचीन समय में कुछ ऐसी आदर्श स्त्रियाँ भी हो गई हैं, जिन्होंने लौकिक सुख को तुच्छ समझ कर, अपना जीवन अविवाहित व्यतीत किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि समाज के कल्याण तथा स्वात्मानन्द के लिये स्त्रियाँ भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती हैं।

५—पातिव्रत और ब्रह्मचर्य

"कोकिलानां स्वरो रूपं, स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम् ।"
(चाणक्य-नीति)

कोयल का रूप उसका स्वर और स्त्रियों का सौन्दर्य उनका 'पतिव्रत' होता है ।

"व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री, लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।"
(मनुस्मृति)

अपने पति को छोड़ कर पर पुरुष को चाहने वाली स्त्री संसार में निन्दित होती है । अर्थात् व्यभिचारिणी कहलाती है ।

स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी होती है । अतएव पति के हित में तत्पर रहना ही उसका सनातन धर्म है । जो स्त्री अपने पति का आदर करती है तथा मन, वचन और कर्म से उसकी आज्ञा का पालन करती है, वही स्वर्ग-सुख पाती है । पति के सर्वथा अनुकूल रहना तथा स्वप्न में भी पर पुरुष की इच्छा न करने को 'पातिव्रत' कहते हैं । इस देश में प्राचीन काल में अनेक पतिव्रता स्त्रियाँ हो गई हैं, जिनकी कीर्ति आज भी भूमण्डल में व्याप्त है । इस बात का साक्षी भारतीय इतिहास है कि जितनी सती साध्वी स्त्रियाँ हिन्दू-जाति में हुईं, उतनी कहीं सुनने में भी न आ सकीं ।

ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास के पश्चात् कन्या का विवाह उसके सदृश ब्रह्मचारी और विद्वान वर से होता है । तब से वह अपने पति के अधिकार में रहती है । गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही उसको 'पातिव्रत' के पालन का सब से बड़ा तप उपस्थित होता

है। यदि वह इसका पूर्ण-रूप से पालन कर सकी, तो वह स्त्री संसार में देवी का स्थान ग्रहण करती है ।

हमारे विचार से पातिव्रत भी स्त्रियों के लिये एक प्रकार का गार्हस्थ्य 'ब्रह्मचर्य' है। इसमें भी प्रायः बहुत साधना की आवश्यकता होती है। अपने पति के साथ भी शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करना व्यभिचार है। गृहस्थ स्त्रियों के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे इस आवश्यक ब्रह्मचर्य का पालन कर गृहस्थाश्रम को सुखमय बनाती रहें।

६—महिलाओं का महत्व

"स्त्री दिव्या शोभते गृहे।"

(चाणक्य-नीति)

दिव्य (गुणों वाली) स्त्री घर में शोभित होती है।

हिन्दू-धर्म के इतिहास में देवियों के अनेक पवित्र चरित्रों का वर्णन आया है। प्रायः जितने प्राचीन ऋषि-महर्षि ग्रन्थकार हुये हैं, सबों ने स्त्रियों के गौरव की कुछ न कुछ अवश्य प्रशंसा की है। स्त्री प्रधानतया प्रकृति की शक्ति है। इसके बिना सृष्टि-रचना असम्भव है। इसी से मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्माजी ने प्रारम्भ में अपने शरीर के दो टुकड़े किये। एक भाग से पुरुष और दूसरे से स्त्री की रचना की।

वैदिक काल स्त्रियों के लिये स्वर्ण-युग था। उस समय ये आज कल की भाँति हीन नहीं थीं। बहुत से उदाहरणों से यह ज्ञात होता

है कि स्त्री-जाति के अधिकार बहुत ही न्याय-संगत थे। उस समय ये वैदिक संस्कारों की अधिकारिणी थीं। यही कारण था कि घोषा, सूर्या, विश्ववरा, लोपामुद्रा तथा इन्द्राणी आदि जैसी विदुषी देवियाँ मन्त्रों की दर्शिका हुईं। उनका उल्लेख आज भी मंत्रों के साथ मिलता है। अब इससे बढ़ कर स्त्रियों की उन्नति और क्या हो सकती है!

अब हम महिलाओं के मूल महत्व, उपकार तथा सद्गुणों के सम्बन्ध में लिखे गये प्रशंसा-वाक्य महाभारत और मानव-धर्म-शास्त्र से उद्धृत करते हैं:—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः॥

पत्नी पुरुष की अर्धांङ्गिनी होती है—भार्या मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र है—भार्या त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का कारण है और भार्या मोक्ष का भी साधन है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः; सभार्याः क्रियमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥

स्त्री वाले क्रियावान् हैं—स्त्री वाले गृहस्थ-धर्मी हैं—भार्या वाले प्रसन्न रहते हैं और स्त्री-युक्त ही धनवान हैं।

सखायः प्रविविक्तेषु, भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्मकार्येषु, भवन्त्यार्तस्य मातरः॥

स्त्रियाँ एकान्त में मित्र, धर्म-कार्य में पितर और दुरवस्था में माता की भाँति प्रसन्नता, सहायता एवं सेवा करती हैं।

स्त्रियान्तु रोचमानायां, सर्वंतद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां, सर्वमेव न रोचते॥

स्त्री की प्रसन्नता में सब की प्रसन्नता है। यदि वह घर में अप्रसन्न हो, तो कुछ भी नहीं अच्छा लगता।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्रा फलाः क्रियाः॥

जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवगण निवास करते हैं। और जहाँ इनका निरादर होता है, वहाँ सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं।

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैताः, वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

जिन घरों में स्त्रियाँ कष्ट पाती हैं, वे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। और जिस कुल में ये सुख पाती हैं, वे सदैव उन्नति करते हैं।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैवच।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

जिस कुल में पत्नी से पति सन्तुष्ट रहता है और उसी भाँति पति से पत्नी सदैव प्रसन्न रहती है, उस कुल में कल्याण होना निश्चित है।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते, धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दाम्पत्य-कलहो नास्ति, तत्र श्रीः स्वयमागता॥

(चाणक्यनीति)

जिस गृह में मूर्खों का आदर नहीं होता—जहाँ अन्न सञ्चित रहता है और जहाँ पति-पत्नी में कलह नहीं रहता, वहाँ लक्ष्मी स्वयं आती है।

पृथिव्यां यानि तीर्थानि, सतीपादेषु तान्यपि।
तेजश्च सर्वदेवानां, मुनीनाञ्च सतीषु च॥

सतीनां पादरजसा, सद्यः पूता वसुन्धरा।
पतिव्रतां नमस्कृत्य, मुच्यते पातकान्नरः॥

संसार में जितने तीर्थ हैं, सब सती स्त्रियों के चरणों में हैं, सब देवताओं और मुनियों का तेज पतिव्रताओं में होता है। सती स्त्रियों की चरण-धूलि से तत्काल पृथ्वी पवित्र हो जाती है। पतिव्रताओं की वन्दना करके मनुष्य पातक से छूट जाता है।

७—आदर्श माता

"नास्ति मातृसमो गुरुः।"

माता के समान बालक का संसार में दूसरा गुरु नहीं।

यह बात बहुत सत्य है कि जैसी माता होती है, वैसी ही उसकी सन्तान भी होती है। प्रत्येक सन्तान पर उसकी माता के भले-बुरे गुणों का अवश्य प्रभाव पड़ता है। हमारी इस बात का समर्थन सुश्रुत और वाग्भट्ट जैसे ऋषि-प्रणीत वैद्यक शास्त्रों में किया गया है। देखिये, धर्माचार्य मनु माता के सम्बन्ध में अपनी यह सम्मति देते हैं:—

उपाध्यायान्दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रन्तु पितॄन्माता, गौरवेणाति रिच्यते॥

१० उपाध्याय के बराबर १ आचार्य, १०० आचार्य के बराबर १ पिता और १००० पिता के बराबर माता गौरव में बड़ी है।

बालक-बालिकाओं पर उपाध्याय, आचार्य और पिता का उतना प्रभाव कदापि नहीं पड़ता, जितना कि माता का प्रभाव पड़ता

है। एक सुशिक्षिता माता अपनी सन्तान को थोड़े ही दिनों में सब गुणों से सम्पन्न कर देती है।

माता का पद वास्तव में बड़े महत्व और उत्तरदायित्व का है। यदि माता अयोग्य हुई, तो सन्तान किसी काम की नहीं हो सकती। सन्तान के लिये माता की योग्यता की परम आवश्यकता होती है।

आजकल की दशा बड़ी विचित्र है। सामाजिक अवनति के कारण प्रायः अयोग्य बालिकायें माता-पद पर सुशोभित हो रही हैं। जब वे स्वयं ही संसार का कुछ अनुभव नहीं रखतीं तब भला वे अपनी सन्तान का क्या उचित प्रकार से लालन-पालन कर सकेंगी? ऐसी अवस्था में, गुणहीन, कुरूप, निर्बल, और निस्तेज सन्तान निकले, तो फिर आश्चर्य ही क्या है?

महाभारत में युधिष्ठिर-मार्कण्डेय-संवाद है। उसमें युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेयजीने इस प्रकार माता का महत्व बतलाया है:—

मातृस्तु गौरवादन्ये, पितृनन्ये तु मेनिरे।
दुष्करं कुरुते माता, विवर्धयति या प्रजाः॥

किसी का मत है कि माता बड़ी है, और किसी के विचार में पिता बड़ा है। पर मैं कहता हूँ कि माता ही बड़ी है। क्योंकि वह सन्तान को पाल-पोस कर बड़ा करने का कठिन कार्य करती है।

आज तक जितने शूरवीर, विद्वान्, कीर्तिमान्, तेजस्वी और प्रतापी पुरुष हुए हैं, वे सब अपनी सदाचारिणी, पतिव्रता तथा सुयोग्य माता के द्वारा ही हुये हैं।

माता के लिये ब्रह्मचारिणी होना अत्यन्त आवश्यक है।

व्यभिचारिणी होने से सन्तान भी वैसी ही उत्पन्न होती है। माता के आचरण का गर्भस्थ बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शुकदेव तथा अभिमन्यु जैसे परम ज्ञानी एवं अद्वितीय वीर बालकों को माता के गर्भ में ही आत्मज्ञान एवं शस्त्र-सञ्चालन की शिक्षा मिली थी। गर्भ-धारण करते ही माता को ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सब नियमों का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचारिणी, सुशीला एवं विदुषी स्त्रियों की सन्तान भी उसकी भाँति सब गुणों में दक्ष होती है।

८—ब्रह्मचर्य-युक्त गर्भाधान

"इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।"

(ऋग्वेद)

हे वीर्य से परम ऐश्वर्यवान पुरुष! तू इस पत्नी को उत्तम पुत्रोंवाली और सौभाग्यवाली बना।

"प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः, सन्तानार्थंश्च मानवम्।"

(मनुस्मृति)

गर्भ धारण करने के लिये स्त्रियाँ और गर्भाधान करने के लिये पुरुषों की रचना हुई है।

प्रायः सभी महर्षियों ने स्त्रियों का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना है। यह कार्य वास्तव में बड़े महत्त्व और दायित्व का है। यही कारण है कि गर्भाधान की गणना षोड्श संस्कारों में की गई है। शास्त्रकारों का मत है कि गर्भाधान ब्रह्मचर्य युक्त होना चाहिये। पर आज कल इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। यही

कारण है कि उत्तम पुत्र-पुत्रियों का अभाव हो रहा है। अयोग्य माता-पिता की सन्तान कैसे अच्छी हो सकती है। जिस अवस्था में इस कार्य का विधान है, उसकी कोई चिन्ता ही नहीं है।

गर्भाधान के लिये अवस्था नियत की गई है। १६ वर्ष से पहले स्त्री को गर्भधारण न करना चाहिये, और २५ वर्ष से पहले पुरुष को गर्भाधान करना मना है। इस नियम के विपरीत चलने से जो जो हानियाँ होती हैं, वे इस प्रकार वैद्यक-ग्रन्थ में वर्णित हैं:—

ऊन षोडश वर्षायाम्, प्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

यदि १६ वर्ष से कम आयुवाली स्त्री में २५ वर्ष से न्यून वयवाला पुरुष गर्भाधान करे, तो वह गर्भ उदर में ही विपत्ति को प्राप्त होता है।

जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्त बालायां, गर्भाधानंन कारयेत्॥

(सुश्रुत-संहिता)

यदि उस गर्भ से सन्तान् उत्पन्न भी हुई, तो वह जीती नहीं। यदि जीती है तो अत्यन्त दुर्बल अङ्गोवाली होती है। इसलिये कम आयुवाली स्त्री में कभी गर्भाधान न करना चाहिये।

पूर्ण युवती स्त्री को चाहिये कि मासिक धर्म से शुद्ध होकर अपने स्वस्थ तथा युवक पति से एक वार समागम करे और गर्भ के लक्षण सूचित होने पर, जब तक बालक उत्पन्न होकर, दूध पीना न छोड़ दे, तब तक पुरुष से सम्बन्ध न करे। अर्थात् २॥, ३ वर्षों के पश्चात् पुनः गर्भाधान का समय आता है, और इस

विधि से अधिक से अधिक १० पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर लेने पर, पुनः ब्रह्मचर्य से रह कर सौ वर्ष तक जीवे। यह आज्ञा हमारे सर्व-प्रधान ग्रन्थ वेद में भी दी गई है। जो स्त्री-पुरुष इस वैदिक नियम का पालन करते हैं, वे सदैव स्वस्थ और नीरोग रहते हैं। उनका आयुर्बल कदापि क्षीण नहीं होता और वे एक बार के सम्भोग से ही गर्भाधान कर सकते हैं। इस बात के उदाहरण हमारे पूर्वज ऋषियों के इतिहास हैं।

प्रत्येक स्त्री को पृथ्वी के गुणों का अनुकरण करना चाहिये। तत्व के धारण, उत्पादन और पोषण की, जो शक्ति पृथ्वी में है, वह स्त्री में भी है। जैसे वह संयम से रह कर बीज धारण करती है, और उसे अङ्कुर के रूप में प्रकट करती है, वैसे ही स्त्री को भी ब्रह्मचर्य का पालन कर गर्भ-धारण करके, उससे सन्तान उत्पन्न करना चाहिये। जैसे वह उस अङ्कुर का पोषण कर उसे योग्य बना देती है, वैसे ही इसे भी अपनी सन्तान को पाल कर योग्य बनाना चाहिये।

प्रत्येक पुरुष को मेघ के गुणों का अनुकरण करना चाहिये। उत्पादन-शक्ति जो उसमें है वह उसमें भी है। जैसे मेघ उचित समय पर पृथ्वी को जल से सींचता है, उसी प्रकार पुरुष को भी नियम से गर्भाधान करना योग्य है।

९—अखण्ड ब्रह्मचारिणी सरस्वती

"सरस्वती वाङ् महती महीयताम्।"

सरस्वती विद्या की महती देवी है, जिसकी महिमा अपार है।

"वन्देतां परमेश्वरीं भगवतीं, बुद्धिप्रदां शारदाम् ।"

(स्तोत्र)

उस परमात्मस्वरूपा, ऐश्वर्यवती तथा बुद्धि-दायिनी शारदा को हम (श्रद्धा सहित) नमस्कार करते हैं ।

सरस्वती का नाम संसार में बहुत ही विख्यात है । इन्हें लोग विद्या की देवी मानते हैं । इसी विचार से आज असंख्य लोग इनकी पूजा करते हैं ।

जिन लोगों के हृदय में विद्वान और ज्ञानवान बनने की अभिलाषा रहती है, वे तो प्रायः निरन्तर इस बड़ी शक्ति की मन, वचन तथा कर्म से आराधना करते हैं । इन्हें सब देवियों में इतनी प्रतिष्ठा और महानता क्यों मिली ? यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात है । अतः हम उसे बताना चाहते हैं ।

सरस्वती देवी विद्या की प्रधान प्रेरिका और रक्षिणी हैं । यह अधिकार इनको ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन और वेदाध्ययन से प्राप्त हुआ है। इस प्रकार तो पुराणों के मत से ये ब्रह्माजी की पुत्री हैं । इन्होंने कभी अपना विवाह ही नहीं किया। इन्हें ज्ञान और विज्ञान से इतना प्रेम हो गया था कि ये जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करती रहीं । कई बार इनकी परीक्षा ली गई, पर ये तिल भर भी अपने व्रत से नहीं डिगीं । विवाह न करने का एक कारण यह भी था कि इन्होंने अपने सदृश एक भी वर नहीं देखा । इनके दीर्घ ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से प्रसन्न हो कर सब देव-मण्डली इनको माता समझने लगी । इनके पिता ब्रह्मा ने इन्हें वेद की अधिष्ठात्री बना दी । तब से आज तक ये उसी अवस्था में पूजित हो रही हैं । ये ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यास से

बहुत प्रसन्न रहती हैं। जो कन्या इनको प्रसन्न करना चाहती हो, वह अवश्य ब्रह्मचर्य से रह कर विद्याभ्यास में लगी रहे।

१०—वेदवती का अपूर्व ब्रह्मचर्य

"किन्नाप्नोति रमारूपा, ब्रह्मचर्य-तपस्विनी।"

ब्रह्मचर्य-तप की तपस्विनी लक्ष्मी-रूपिणी स्त्री को संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्राचीन समय में अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रेमी न केवल पुरुष ही थे, वरन् कई स्त्रियाँ भी ऐसी हुई हैं, जिन्होंने ब्रह्मचर्य के लिये अपना अमूल्य जीवन समर्पित किया था। क्या पुरुष क्या स्त्री, जिस किसी को ब्रह्मचर्य का मधुर फल चखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वही इस पर मुग्ध हो गया है। इस बात को हम एक पौराणिक आख्यायिका द्वारा दिखलाना चाहते हैं:—

वेदवती नाम की एक ऋषिकन्या थी जो अत्यन्त सुन्दरी तथा सुशीला थी। वह पूर्ण युवती हो गई थी, पर अभी उसका विवाह नहीं हुआ था। वह एक वन की पर्ण-कुटी में रह कर निरन्तर तपस्या करती थी। उसकी इच्छा भी विवाह करने की न थी। कारण यह था कि उसका मन ब्रह्मचर्य के पालन से बहुत शुद्ध और दृढ़ हो गया था।

एक दिन की बात है कि राक्षसों का राजा रावण उसी मार्ग से आ निकला। उसकी दृष्टि वेदवती पर पड़ी। वह उसे देखते ही मोहित हो गया। उसने नाना प्रकार के प्रलोभनों में उसे

फाँसना चाहा, पर उस ब्रह्मचारिणी का मन तिल भर भी न डिग सका। रामचरितमानस में बहुत सत्य लिखा है:—

डगै न शम्भु शरासन कैसे।
कामी-वचन सती-मन जैसे॥

अन्त में रावणने हार मान कर उसे बलात् भ्रष्ट करना चाहा। उसने उसके लम्बे-लम्बे काले-काले केशों को पकड़ कर खैंचना प्रारम्भ किया। इस पर उस परम तेजस्विनी महिला ने रावण को इस प्रकार झटका दिया कि वह दूर जा गिरा। फिर वेदवती ने कहा—रे दुष्ट पापात्मा! तूने मेरे केशों का स्पर्श कर लिया। इस लिये पर पुरुष के छू जाने से मेरा ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित हो गया। अब मैं अपना कलुषित कलेवर किसी प्रकार नहीं रख सकती। ले देख! मैं अभी इसका प्रायश्चित्त किये देती हूँ।

यह कह कर वह वहीं एक जलते हुये अग्नि-कुण्ड में कूद पड़ी और साक्षात् ब्रह्म-लोक में जा पहुँची। अन्यायी रावण हाथ मल कर रह गया।

धन्य है सती-शिरोमणे! धन्य है! अवश्य ही तूने अपूर्व ब्रह्मचर्य का परिचय दिया। तेरे पवित्र चरित्र तथा अदम्य आत्म-बल की कथा भारत की स्त्री-जाति के इतिहास में "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" सुवर्णाक्षरों में लिखी रहेगी।

हमारी पाठिकाओं को इस ब्रह्मचारिणी के आदर्श चरित्र तथा मनोबल से शिक्षा लेनी चाहिये।

११—सर्वोच्च ब्रह्मचारिणी सीता

।"सीता सर्वगुणोपेता, चार्या पतिपरायणा।"

(सूक्ति)

सीता सब गुणों से भूषित और श्रेष्ठ पति (राम) की सेवा करनेवाली थीं।

जैसे श्रीराम एक पत्नी-व्रत गृहस्थ ब्रह्मचारी थे, वैसी ही सीता भी पतिपरायणा आदर्श-पतिव्रता थीं। रामायण भर में सीता के चरित्र में कई प्रसङ्ग ऐसे आये हैं, जिनसे उनके मानसिक ब्रह्मचर्य, अद्वितीय पति-प्रेम, सत्यनिष्ठा और धर्म-पालन आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। यदि भारतवर्ष की स्त्रियाँ इनके चरित्र को पढ़कर अपना जीवन सुधारें, तो फिर कहना ही क्या है।

अयोध्या में श्रीराम के वन-गमन के समय उन्होंने पति के साथ चलने का प्रबल अनुरोध किया, जो वर्णन के बाहर है। श्रीराम ने बहुत कुछ उपदेश दिया, पर पतिप्राणा सीता ने बड़ी नम्रता से उनका खण्डन किया, जो तुलसीकृत रामायण में देखने योग्य है।

सीताजी ने बड़े विनयशील और नीतियुक्त वचनों में श्रीराम की बातों का खण्डन इस प्रकार किया:—

तनु धन धाम धरणि पुर राजू।
पति विहीन सब शोक समाजू॥
भोग रोग-सम भूषण भारू।
यम-यातना सरिस संसारू॥

प्राणनाथ ! तुम बिन जगमाहीं ।
मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं ॥

❀ ❀

जिय बिनु देह नदी बिनु वारी ।
वैसहि नाथ पुरुष बिन नारी ॥

❀ ❀

खग मृग परिजन नगर वन, वल्कल वसन दुकूल ।
नाथ साथ सुर-सदन सम, पर्णशाल सुख-मूल ॥

❀ ❀

पावँ पखारि बैठि तरु-छाहीं ।
करिहौं वायु मुदित मन माहीं ॥

❀ ❀

को प्रभु सँग मोहिं चितवन हारा ।
सिंह वधुहिं जिमि शशक सियारा ॥
मैं सुकुमारि नाथ वन योगू ।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू ॥

(तुल० रामा०).

ये बातें कह कर सीता पृथ्वी पर गिर पड़ीं । यह दशा देख कर राम ने विचारा कि यदि मैं जानकी को यहीं छोड़ जाऊँगा तो यह जीती न रहेगी । अतः उन्होंने अपने साथ चलने की आज्ञा दे दी।

रावण के हर ले जाने पर लङ्का की अशोक-वाटिका में तपस्विनी वेष में सीताजी कई वर्षों तक पति के ध्यान में मग्न रहीं । पराये पुरुष की ओर देखना भी वे पाप समझती थीं ।

उन्होंने रावण को कैसा फटकारा:—

तृण धरि ओट कहति वैदेही।
सुमिरि अवध-पति परम सनेही॥
शठ ! सूने हरि आनेसि मोहीं।
अधम निलज्ज लाज नहिं तोहीं॥

राक्षसों के संहार हो जाने पर विभीषण ने सीता को लाकर उपस्थित किया। राम के कहने से उनकी अग्निपरीक्षा हुई, उन्होंने यह कह कर अग्नि में प्रवेश किया:—

जो मन क्रम वच मम उर माहीं।
तजि रघुवीर आन गति नाहीं॥
तौ कृशानु सब की गति जाना।
मो कहँ होहु श्रीखण्ड समाना॥

और वे सब के सम्मुख निष्पापा और सच्चरित्रा सिद्ध हुईं। श्रीराम उन्हें लेकर अयोध्या लौटे।

जब श्रीराम ने उन्हें गर्भवती की अवस्था में ही वन में निकाल दिया तो वे महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगीं। वहीं उनके दो पुत्र भी हुये। अन्त में श्रीराम के सम्मुख पुनः जानकी की परीक्षा का समय आया। महर्षि ने भी पूर्ण रूप से उनकी निष्पापता और पतिनिष्ठा का परिचय दिया। उस समय सीता के मुख से जो वाक्य निकले वे वास्तव में मनन करने ही योग्य हैं। उन्होंने कहा:—

यथाऽहंराघवादन्ये, मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवो देवि, विवरं दातुमर्हति॥

हे पृथ्वी देवि ! यदि मैंने राम के अतिरिक्त किसी का ध्यान मन में भी न किया हो, तो तुम मुझे अपने पास स्थान दो।

उनकी इस बात से पृथ्वी में एक स्थान हो गया और वे उसमें पृथ्वी देवी के साथ लीन हो गईं।

अब पाठिकायें सीता के आदर्श ब्रह्मचर्य का परिचय भली भाँति पा गई होंगी। उनमें कितनी आत्म-शक्ति, निर्भीकता और सत्यप्रियता थी। उनके कथन से कितना साहस और पति-प्रेम टपक रहा है। अतः सीता के उच्च चरित्र के पढ़ने का यही अभिप्राय है कि तुम भी उन्हीं की भाँति पतिव्रता बनने का उद्योग करो।

१२—गृहस्थ ब्रह्मचारिणी देवहूती

"भार्यामूलं त्रिवर्गस्य, भार्यामूलं तरिष्यतः।"

(महाभारत)

स्त्री धर्म, अर्थ और काम का मूल है। यह मोक्ष का भी साधन है।

"या नारी पतिभक्ता स्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी।"

(सूक्ति)

जो स्त्री केवल अपने पति से अनुराग रखती है, वह सर्वदा ब्रह्मचारिणी कहलाती है।

कुछ लोगों का मत है कि जिस स्त्री का विवाह हो गया, वह ब्रह्मचारिणी नहीं रह जाती। पर यह बात भ्रम-मूलक है। गृहस्थाश्रम में भी रहकर स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। मनु आदि धर्माचार्यों का कहना है कि नियमित समय में सन्तान के लिये मैथुन करना ब्रह्मचर्य है। फिर ऐसी अवस्था में एक

नियत समय तक गृहस्थी में धर्म युक्त वीर्य के संरक्षण को क्यों न ब्रह्मचर्य कहा जाय ? जो स्त्रियाँ केवल अपने पति से उचित समय पर संसार के हित की इच्छा से सहवास कर गर्भ धारण करती हैं, वे भी ब्रह्मचारिणी हैं। ऐसी स्त्रियों की सन्तान सर्वदा सद्गुणवाली होकर फलती-फूलती है।

पुराणों में एक कथा महासती देवहूती की आई है। कदाचित् हमारी पाठिकायें भी इस नारी-रत्न का नाम सुन चुकी हों। ये प्रसिद्ध राजा स्वायंभुव मनु की पुत्री थीं। इनका विवाह कर्दम ऋषि से हुआ था। वे भी ज्ञान, विद्या, बुद्धि और धर्म में बड़े आदर्श पुरुष थे। देवहूती भी अत्यन्त सुशीला, परम विदुषी, धर्मपरायणा, सदाचारिणी एवं पतिव्रता स्त्री थीं। इन्हीं के कारण इनकी तीन सन्तानें संसार में सुप्रसिद्ध हुईं। अरुन्धती और अनुसूया नाम की दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें पहली का विवाह महर्षि वशिष्ठ से और दूसरी का महामुनि अत्रि से हुआ था। एक पुत्र जिनका कि नाम कपिल मुनि था। ये अद्वितीय तत्वज्ञान सांख्य शास्त्र के आचार्य हुये।

बहुत दिन तक गृहस्थाश्रम के सुखों का उपभोग कर लेने पर, कर्दम ऋषि ने तपस्या करने के लिये देवहूती से आज्ञा माँगी। उस समय उस देवी ने अपने प्रिय पति को जाने की आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् वे स्वयं ब्रह्मचर्य-पालन और ब्रह्मज्ञान के चिन्तन में अपना समय बिताने लगीं। वे अपने पुत्र से आध्यात्मिक विचारों को प्रश्न द्वारा प्रकट कर, उनसे शङ्का-समाधान कराती थीं। यह बात आज भी विख्यात है। यदि ऐसी आदर्श ब्रह्मचारिणी माता न होती, तो हमें एक महान् तत्ववेत्ता की उपलब्धि न होती।

वास्तव में जितेन्द्रिया, सत्यशीला, शुभ गुण-युक्ता, पति-प्रेमा, रोग-रहिता, दयावती, क्षमावती, सन्तान-वत्सला, सदाचारिणी, अध्ययनशीला, गृह-कर्म-कुशला एवं सर्व गुण-सम्पन्ना स्त्री ही आदर्श माता हो सकती है। ऐसी ही माता से देश, समाज, धर्म और जाति का यथेष्ट उपकार हो सकता है।

१३—स्त्री-जातिका पतन

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः, स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।"

साधारण से साधारण दोषों से भी स्त्रियों की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये।

किसी भी समाज के उत्थान और पतन का कारण विशेष कर उस देश का स्त्री-मण्डल होता है। समाज का अत्यन्त आवश्यक तथा सहायक अङ्ग स्त्री-समुदाय माना गया है। यदि वह हीन हो जाय, तो समाज की दुर्गति निश्चित है!

हमारा भारतवर्ष क्यों उच्च दशा को प्राप्त था? हमारी हिन्दू-जाति किसके बल पर उन्नत हुई थी? यहाँ की सुशिक्षिता, पतिव्रता एवं आदर्श गुणवती स्त्रियों के कारण। पुरुष कभी भी उत्तम कार्य नहीं कर सकते, जब तक कि उनके घर में सच्ची साध्वी पत्नी न हो। इस सम्बन्ध में नीति-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत कर देना बहुत उचित जान पड़ता है:—

"यस्यास्ति भार्या पठिता सुशिक्षिता,
गृहक्रिया-कर्म-सुसाधने क्षमा॥

स्वजीविकां धर्म-धनार्जनं पुनः,
करोति निश्चिन्तमथो हि मानवः ॥

जिसकी स्त्री पढ़ी-लिखी, सुशिक्षिता, गृह-कार्य तथा अन्य व्यवहारों में सुयोग्या होती है—वह पुरुष चिन्ता-रहित प्रसन्नमन होकर अपने धर्म तथा धन का उपार्जन कर सकता है।

काल के प्रभाव से अब स्त्रियों की प्राचीन मर्यादा का लोप हो रहा है। हिन्दू-जाति में अब स्त्रियाँ केवल पैर की पनही समझी जाने लगी हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध ही दूर हो गया। पुरुष-जाति इनको पढ़ना-लिखाना एक अपमान और लज्जा की बात मानने लगा। इस प्रकार अयोग्य स्त्रियों को गृहस्थी के गुरुतर भार सौंपे जाने लगे और देश रसातल को पहुँच गया। स्त्रियों के इसी सम्बन्ध का एक हिन्दी कवि ने अपने पद्य में कैसा अच्छा चित्र खींचा है:—

सोचो! नरों से नारियाँ किस बात में हैं कम हुईं।
मध्यस्थ में शास्त्रार्थ में वे भारती के सम हुईं॥
होतीं अनेकों रहीं गार्गी और मैत्रेयी जहाँ।
हैं अब अविद्या-मूर्ति सी कुल-नारियाँ होतीं वहाँ॥

(भारत-भारती)

जिस स्त्री-जाति ने शङ्कराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे वेदान्ती—राणा प्रताप और शिवाजी जैसे शूर वीर—समर्थ रामदास, रामकृष्ण और सूरदास जैसे महात्मा—कालिदास, तुलसी दास और भूषण जैसे कवि, दयानन्द जैसे समाज सुधारक और तिलक तथा गान्धी जैसे देशसेवक उत्पन्न किये, उसकी दुर्दशा, किसे न असह्य ज़ान पड़ेगी?

आज तक जितने सत्पुरुष उत्पन्न हुये हैं; वे सब सदाचारिणी माताओं के कारण ही हुये हैं। स्त्री-जाति का सुधार ही राष्ट्रीय सुधार समझना चाहिये। जो जाति उन्नत होना चाहती है, वह स्त्रियों में सद्गुणों का पहले प्रचार करे।

१४—व्यभिचारिणी की दुर्दशा

"व्यर्थीकारेण शुक्रस्य, ब्रह्म-हत्यामवाप्नुयात्।"

(निर्णय-सिन्धु)

वृथा वीर्य का नाश करने से ब्रह्म-हत्या का पाप लगता है।

"रजोदर्शनतः पूर्वं, न स्त्री-संसर्ग माचरेत्।"

(भविष्यपुराण)

रजोदर्शन होने से पहले स्त्री से समागम करना निषेध है।

पुरुष-जाति में व्यभिचार तो बढ़ा ही है, पर उनके प्रभाव से स्त्रियों में भी इस दोष का प्रचार हो रहा है। शास्त्रों के मत से अपने पति के साथ भी अनियमित मैथुन करना भी व्यभिचार है, और इससे भी पाप होता है। सती स्त्रियाँ वे ही हैं, जो नियत समय पर सन्तान की इच्छा से पति का समागम करती हैं। असमय में सम्भोग-रत होने से पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का नाश होता है। वीर्य और रज के अधीन जीवन है। इसलिये दोनों को जीव-हत्या का पातक होता है।

जो स्त्रियाँ बाल्यावस्था से ही विषय-वासना में लग जाती हैं वे कभी सुख नहीं पातीं।

स्त्रियों के दुराचारिणी होने से कुल, धर्म, जाति और देश का अधःपतन हो जाता है। जिस देश का नारी-समाज पतित होता है, वहाँ का पुरुष-समाज भी घृणित और अवनत स्वयं हो जाता है। यद्यपि स्त्रियों को दूषित करने का लान्छन पुरुषों पर ही लगाया जा सकता है, तथापि अज्ञानता के कारण स्त्रियाँ भी अपने नाश का कारण बन रही हैं।

हमने देखा है कि सधवा स्त्रियों की अपेक्षा विधवायें अधिक स्वस्थ और नीरोग रहती हैं। उनकी आयु भी बहुत बड़ी होती है और वे परिश्रम भी बहुत करती हैं। इसका प्रधान कारण हमें यही ज्ञात होता है कि उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन करने का अधिक अवसर मिलता है। पति के न रहने पर उनका जीवन संयमित और व्यभिचार रहित हो जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि जो स्त्रियाँ अपने पति के जीवन-काल में बहुत अस्वस्थ रहती थीं, वे भी पति के मर जाने पर हृष्ट पुष्ट हो गई हैं।

अब हम स्त्रियों की उन दुरवस्थाओं का वर्णन करते हैं, जो अति मैथुन तथा पापाचरण से उत्पन्न होती हैं:—

१—व्यभिचार से स्त्रियों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

२—युवावस्था में ही सब अङ्ग शिथिल हो जाते हैं।

३—बुद्धि, बल और गुणों का ह्रास होने लगता है।

४—गर्भ धारण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

५—बहुत सी स्त्रियों के बालक नहीं होते, और होते भी हैं तो जीते नहीं।

६—राजयक्ष्मा, प्रदर, रक्तवात-विकार, संग्रहणी, शूल तथा अन्य प्राणनाशक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

७—हृदय में दुर्बलता, भोजन में अरुचि, भोग में आसक्ति, चित्त में अशान्ति तथा शयन में अनिद्रा हो जाती है।

८—क्रोध, अनुत्साह, अधैर्य, अविचार, अकार्य और लोभ वाला स्वभाव बन जाता है।

९—जीवन भाररूप और दुःखमय जान पड़ने लगता है।

१०—रोग पर रोग लगे रहते हैं, जिनसे असमय में ही मृत्यु हो जाती है।

आजकल प्रायः स्त्रियाँ इन दुर्दशाओं को भोग रही हैं। अतएव यदि वे अपने को इनसे बचाना चाहें, तो अपने पतियों को भी सदाचारी बनावें और स्वयं सदाचारिणी बनने का उद्योग करें। यदि स्त्रियाँ चाहें, तो यह कोई उनके लिये बहुत कठिन काम नहीं है। धीरे-धीरे अभ्यास से अपने दोषों को निश्चय पूर्वक वे दूर कर सकती हैं।

१५—स्त्री-जाति पर विदेशी मत

इस शीर्षक में हम उन विदेशी विद्वानों का मत उद्धृत करते हैं, जिन्होंने कि स्त्री-जाति के सबन्ध में बहुत विवेचना कर लेने पर ही अपना विचार प्रकट किया है:—

साध्वी स्त्री संसार के सब ऐश्वर्यों से बढ़ कर है। वह एक स्वर्गीय देवी है, जिसमें सम्पूर्ण दिव्य गुण निवास करते हैं।

(जरमी टेलर)

समाज के आचार को बनाना, गृह का प्रबन्ध करना तथा

कोमलता, प्रेम, और सहन-शीलता से जीवन की कठिन और विषम यात्रा को सरल और सुखद बनाना स्त्री का ही काम है।

(टामसन)

इस संसार में स्त्रियों का राज्य है। ये ही माताओं, पुत्रियों और पत्नियों के रूप में इस जीवन के सङ्कुचित मार्ग को विस्तृत बनाती हैं।

(मांट गुमरी)

किसी देश की परम्परा और जाति-नियम कुछ भी हो, पर धर्म और सदाचार की निष्पत्ति स्त्रियों के हाथ में होती है।

ये देवियाँ हमारी पूजनीया हों या सहचरी नायिका हों या परिचारिका, इनका अखण्डनीय प्रभाव हम पर पड़ता है।

(मार्टिन)

वह कौन सा आकाश है, जहाँ स्त्री का प्रेम नहीं चढ़ता और वह कौन सा पाताल है, जहाँ वह नहीं उतरता।

(कारलिटन)

स्त्री हमारे अविश्वास और कठोरता से सूखे हृदय को प्रफुल्लित कर देती है। इन्हीं देवियों के प्रताप से नरक भी स्वर्ग बन जाता है।

(लार्ड बाइरन)

मेरा जहाँ तक अनुभव है—मैं कह सकता हूँ कि सर्वत्र स्त्रियाँ कोमल-हृदया, दयाशीला, धर्म-परायणा और परोपकारिणी होती हैं। श्रद्धा, लज्जा और दया—ये तीन सहेलियाँ तो कभी इनका साथ नहीं छोड़तीं।

(लियार्ड)

पुरुष को प्रसन्न रखने में स्त्री की प्रसन्नता है। वह पुरुष की प्रसन्नता के लिये प्राणों को बलि तक दे सकती है।

(काउंट्री पटमोर)

संसार-वाटिका में सती स्त्री सबसे सुन्दर सुमन है। उसकी कोमलता, उसकी सुगन्धि और रमणीयता—एक से एक बढ़ कर मनोहर है।

(थौकरे)

स्त्री की सुन्दरता किस बात में हैं ? परोपकार और निश्छल भक्ति में तथा सन्तोष और सहनशीलता में—ये गुण उसके लावण्य को चमकाते, तेज को बढ़ाते तथा उसे देवता बनाते हैं।

(मिल्टन)

प्रसन्न मन और प्रसन्न वदन होना साहिष्णुता, सहानुभूति, बुद्धि की तीव्रता, स्मृति की पौढ़ता और दूसरे के मनको सहज में खींच लेना—इन गुणों में स्त्रियाँ अद्वितीय हैं।

(गजबोन)

देवियों के हृदय पर एक बार जो बात अङ्कित हो जाती है, उसका मिटाना फिर बड़ा कठिन हो जाता है।

(थेकरे)

इस बात को अपने मस्तिष्क से निकाल दो कि तुम स्त्रियों से गौरवशाली हो ! स्त्रियाँ तुम्हारी इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं की सङ्गिनी हैं। वे तुम्हारे सुख-दुःख में सहायता देती हैं।

(मेजिनी)

पञ्चम खण्ड

१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ यथा मधु मधुकृतः सम्भरन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि भ्रियताम् ॥

(अथर्ववेद)

जिस प्रकार से भ्रमर पुष्पों का रस लेकर मधु बनाता है और उसे मधु-चक्र में भरता है, उसी प्रकार हे सूर्य और चन्द्र रूपी परमात्मन् ! हमारे अन्तःकरण में भी तुम आत्म-तेज को प्रकाशित करो ।

तुम सूर्य और चन्द्र हो ! सूर्य से जगत् की जीवनी-शक्ति उष्णता और चन्द्र से शान्ति-दायिनी शीतलता प्राप्त होती है । ब्रह्मचारी को इन दोनों की आवश्यकता होती है । तुम भ्रमर की भाँति सारतत्वों को ग्रहण करते हो । तुम्हारे पास अखिल सद्-गुण विद्यमान हैं, जिन के प्राप्त होने से ही आत्म-तेज प्रकट हो सकता है । हम इसी के लिये ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं । हम भी मधुप बनना चाहते हैं । हमारी इच्छा है कि हम अपने शरीर में वीर्य को बढ़ाने का प्रयत्न करें । जैसे मधु के एकत्र करने से लोक को सुख पहुँचता है, इसी भाँति ब्रह्मचर्य के सिद्ध होने से सब

लोगों को मधुरता मिलती है। अतः हे प्रभो! हमें वही ज्ञान दो जिससे हमारा व्रत पूर्ण हो! हम अपनी ही नहीं, संसार की सेवा के लिये ही यह वरदान माँग रहे हैं।

२—शरीर का सार

"शुक्रायत्तं बलं पुंसः।"

(वैद्यक)

वीर्य के अधीन मनुष्य का शारीरिक बल रहता है।

संसार के सभी पदार्थों में एक सार तत्व रहता है। उसके बल से ही वह सुरक्षित और मान्य होता है। सार तत्व के बिना किसी वस्तु की कभी स्थिति नहीं हो सकती। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि एक भी पदार्थ सत्ता से हीन नहीं है। जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक उसकी इस विशेष शक्ति का लोप नहीं हो सकता।

मनुष्य शरीर में भी एक सार तत्व है। उसी के रहने से वह अपना जीवन धारण कर सकता है। उसके बिना उसकी शारीरिक अवस्था एक क्षण भी नहीं चल सकती। लोग इस सार तत्व को 'वीर्य' कहते हैं। जो लोग बुद्धिमान हैं, वे यत्न-पूर्वक इसे अनुपम 'रत्न' समझ कर इसकी रक्षा करते हैं।

कुछ तत्वज्ञानियों का कहना है कि जब तक शरीर में वीर्य की स्थिति रहती है, तब तक मनुष्य मर नहीं सकता। वीर्य का नाश ही जीवन का नाश है। मृतक होने की दशा में वीर्य का

पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है। इस मत का अभिप्राय यह है कि वीर्य शरीर का वह अस्तित्व है, जिसके बल पर वह अपना कार्य सम्पादित कर सकता है।

हमारे वैद्यक-शास्त्र के आचार्यों ने इस वीर्य पर बहुत उत्तम विचार किया है। उन्होंने भी इसको सार-पदार्थ माना है। प्रायः सब ने इसकी रक्षा के लिये लाभप्रद उपदेश किये हैं।

वीर्य की रक्षा करने वालों का शरीर सुदृढ़, आत्मा सन्तुष्ट तथा मन प्रसन्न रहता है। वीर्यवान् पुरुष ही इस संसार में स्वस्थ शरीर और निर्भय चित्त रह सकते हैं। अतः मनुष्य-जाति का कर्त्तव्य है कि शरीर—रक्षा और सदुद्देश्य की सिद्धि के लिये इस अमृत रूपी वीर्य का सञ्चय करे। भ्रम-वश कभी इसका नाश करने में तैयार न हो।

आहारस्य परं धाम, शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षये यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति॥

(चरक-संहिता)

मनुष्य के भोजन का सब से उत्कृष्ट अंश वीर्य है। अतएव यत्न सहित उसकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि वीर्य के क्षय होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और इसका अन्तिम परिणाम मरण भी है।

३—वीर्य की उत्पत्ति

"शुक्रतेजो रेतसीच, वीज-वीर्येन्द्रियाणि च।"

(अमर-कोष)

मनुष्य-शरीर में रहने वाले सार पदार्थ के इतने नाम हैं:—शुक्र, तेज, रेतस्, वीज, वीर्य और इन्द्रिय।

"वीर्यं सर्वार्थ-साधकम्।"

वीर्य सब प्रकार के अर्थों का साधने वाला है।

मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, वह पहले पाकस्थली में जाकर रक्षित होता है। आहार के पचने पर रसादि सात धातुयें क्रम से वनती हैं। आहार का अन्तिम और सर्वोत्तम परिणाम वीर्य है। यह अत्यन्त उपयोगी और जीवन तत्व वाला होता है। शरीर के लिये सातों धातुयें आवश्यक हैं। अतएव वैद्यक-शास्त्र के अनुसार हम उनका यहाँ पर वर्णन करते हैं।

रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदस्यास्थिस्ततो मज्जा,मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥

(शुश्रुताचार्य)

भोजन के पचने पर रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य उत्पन्न होता है।

इससे यह प्रकट है कि सप्तम धातु वीर्य है। यह मज्जा से उत्पन्न होता है। यही शरीर का ज़ीवन और आधार है। अब पाठक समझ गये होंगे कि वीर्य कैसे बनता है और शारीरिक धातुओं में उसका कौन सा स्थान है?

४—ओज और वीर्य

"ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।"

(यजुर्वेद)

हे परमेश्वर ! तुम जीवन-तत्व हो । अतः तुम हमे उसे प्रदान करो !

मनुष्य-शरीर जिस मूल शक्ति के कारण सजीव रहता है, उसका नाम वैद्यक-शास्त्र वालों ने 'ओज' रखा है । यह ओज देह की सम्पूर्ण धातुओं का सार और मानवी जीवन शक्ति का आधार है । उसके बढ़ने से आयुर्बल की वृद्धि और घटने से क्षीणता आती है । इस सम्बन्ध में आर्ष वचन देखने योग्य है:—

ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परंस्मृतं ।
यन्नाशे नियतं नाशो, यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम् ॥

(वृद्ध वाग्भट)

ओज रस से लेकर वीर्य-पर्यन्त धातुओं का तेज है, जिसके नष्ट होने पर कोई जीवित नहीं रह सकता । इसके रहने पर ही जीवन धारण किया जा सकता है ।

यह बात विदित हो गई कि ओज अमुक तत्व है । अब यह प्रश्न होता है कि यह रहता किस स्थान पर है ? इस विषय में भी वैद्यक का मत इस प्रकार है:—

"हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थिति निबन्धनम् ।"

वह ओज प्रधानतया हृदय में रहता है, और वहीं से सब अङ्गों में पहुँचकर उनकी रक्षा करता है ।

वैद्यक-शास्त्र में 'वीर्य' की उपधातु को 'ओज' माना गया है । पर कुछ आचार्यों के मत से यह सात धातुओं से पृथक् माना

गया है। हमारे मत से भी यह स्वतन्त्र और सर्व श्रेष्ठ तत्व है, जो वीर्य की शक्ति के रूप में सर्व शरीर में विद्यमान रहता है। अब हम इसका विशेष वर्णन भी यहाँ पर देते हैं:—

ओजः सर्व शरीरस्थं, स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य, बल पुष्टि करं मतम्॥
(योग-चिन्तामणि)

ओज का निवास सब शरीर भर में है। यह चिकना, शीतल स्थिर, उज्ज्वल होता है। यह शरीर भर में तेज फैलाने वाला और बल-पुष्टि का बढ़ाने वाला है।

वास्तव में ऊपर का ओज ही जीवन-तत्व है। यह वीर्य की अधिकता से बढ़ता और न्यूनता से घटता है। इसके अधीन शारीरिक और मानसिक समस्त शक्तियाँ मर्यादित होती हैं। ब्रह्मचर्य के पालन करने से ओज का नाश नहीं होता! ब्रह्मचारियों का ही शरीर ओज से परिपूर्ण रहता है, और वे ही हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, सहिष्णु, बली, विद्वान् विनम्र एवं श्रीमान् देखे जाते हैं। उनकी आयु भी सौ वर्षों से कम की नहीं होती। व्यभिचारी पुरुष क्षणिक सुख में पड़ कर अपने वीर्य का नाश कर देते हैं, और उसके साथ अपने को भी खोकर निस्तेज, निर्धन, निर्बल, कुरूप और निर्बुद्धि होकर अपमृत्यु से थोड़े ही दिनों में मारे जाते हैं।

अब पाठक ओज और वीर्य के सम्बन्ध को समझ गये होंगे कि ब्रह्मचर्य से ही ये दोनों रक्षित रह कर दीर्घजीवन और सब सुख प्रदान कर सकते हैं।

५—वीर्य पर वैज्ञानिक दृष्टि

"अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः ।"

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है ।

"शुक्रायत्तञ्च जीवितम् ।"

(अ. गी.)

मनुष्य का जीवन उसके वीर्य के अधीन है ।

पाश्चात्य देशवासी इस समय आविष्कार करने में भारतीयों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं । उनके आविष्कार संसार में विशेष गौरव पा रहे हैं । जहाँ उन्होंने अनेक आविष्कार किये, वहाँ भला शरीर जैसे भौतिक पदार्थ के विषय में अन्वेषण न करते, तो कैसे बनता ! उन्होंने यह बात सिद्ध की है कि मानव-शरीर में असंख्य जीव हैं । वीर्य, रक्त और मल में भी अगणित जीवाणु होते हैं । इन्हीं जीवाणुओं की शक्ति से शक्ति, वृद्धता से वृद्धता और मृत्यु से मृत्यु होती है। एक बिन्दु वीर्य में भी कोट्यधिक जीवाणु होते हैं । वीर्य-पात से शरीर के जीवाणुओं का नाश होता जाता है, जिससे मनुष्य शीघ्र मरता है । यदि ब्रह्मचर्य से वीर्य की रक्षा की जाय, तो ये ही जीवाणु शरीर को बलशाली, कान्तिमान् और दीर्घायु बनाने का काम करते हैं ।

वैज्ञानिकों ने भी ब्रह्मचर्य को महत्व दिया है । उनका मत है कि जीवाणुमय वीर्य के संरक्षण से ही मनुष्य स्वस्थ और सुखी रह सकता है । व्यभिचारी पुरुष प्रायः अस्वस्थ और दुखी देखे

जाते हैं। इसका कारण यही है कि वे अपने वीर्य का नाश कर इस अवस्था को पहुँचते हैं।

हमारे मत से भी वैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त बहुत सत्य प्रतीत होता है। वीर्य में अवश्य जीवाणु हैं। इन्हीं के बल पर जीवन स्थिर है। इन्हीं के नष्ट हो जाने से लोग हत वीर्य और नपुंसक हो जाते हैं। इन्हीं के कारण सन्तानोत्पत्ति होती है।

जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः।
वीर्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं क्षणात् ॥

(वैद्यक)

जीव देह में सब स्थानों में रहता है, पर वीर्य, रक्त और मल में विशेष रूप से वसता है, जिसके नष्ट होने से क्षण भर में मनुष्य का नाश हो जाता है।

६—वीर्य के पकने का काल

धातौ रसदौ मज्जान्ते, प्रत्येकं क्रमतो रसः।
अहो रात्रात्स्वयं पञ्च, सार्धं दण्डञ्च तिष्ठति ॥

(महामान्य भोज)

रस से लेकर मज्जा तक प्रत्येक धातु पाँच रात दिन और डेढ़ घड़ी तक अपनी अवस्था में रहती हैं। तदनन्तर वीर्य बनता है। अर्थात् ३० दिन-रात और ९ घड़ी में रस से वीर्य की उत्पत्ति होती है।

सभी चिकित्सकों का मत है कि एक मास के पश्चात् पुरुष-

शरीर में वीर्य तथा स्त्री शरीर में रज उत्पन्न होता है। इतने समय के पहले किसी के मत से वीर्य बनना नहीं सिद्ध होता।

हमारे प्राचीन आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत के मत से भी वीर्य एक मास के पश्चात् बनता है:—

"एवं मासेन रसः शुक्रो भवति पुंसां स्त्रीणाञ्चार्तव मिति।"

(सुश्रुत-संहिता)

इस प्रकार एक महीने में (छः धातुओं को पुष्ट करता हुआ) यह रस पुरुष के शरीर में वीर्य और स्त्री के शरीर में रज बन जाता है।

३० दिन के उपरान्त और ४० दिन के पूर्व अन्तिम धातु—वीर्य का बनना सर्व सम्मत है।

अब यह प्रश्न होता है कि यदि एक मास तक वीर्य नहीं बनता, तो इससे पहले सम्भोग करने से बाहर क्यों निकलता है? इसका उत्तर यह है कि वीर्य का तो कभी शरीर में अभाव नहीं रहता। जिस दिन अभाव हो जाय, उसी दिन मनुष्य जी नहीं सकता।

प्रत्येक मनुष्य सदा भोजन करता है। जो कुछ आहार किया जाता है, उससे सदैव रसादि सातों धातुयें में क्रम से बनती रहती हैं। सातों धातुओं की सात प्रकार की क्रियायें निरन्तर होती हैं। इस नियम से वीर्य भी सदा बनता है, तो फिर ऊपर का मत मिथ्या है? नहीं! उसका अभिप्राय यह है कि निरन्तर बनने वाली धातु परिपक्व नहीं होती। जो धातु अविराम काम करती रहती है, वह एक मास के पश्चात् भली भाँति पक जाती है। एक मास के पश्चात् मनुष्य का वीर्य और स्त्री का रज भी सर्वाङ्गों को पुष्ट करता हुआ, उचित अवस्था को पहुँच जाता है।

एक मास से पहले मैथुन का निषेध क्यों किया गया है ? वह इसीलिये कि इससे पहले वीर्य के बाहर निकलने से सब धातुओं में क्षीणता आ जाती है। धातुओं में क्षीणता आ जाने से, शरीर के सब अवयव निर्बल हो जाते हैं, और रोगों की उत्पत्ति होती है।

हमारे विचार से एक मास के पश्चात् वीर्य का पकना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसका प्रमाण यह है कि स्त्रियों का ऋतु-काल भी एक मास के पश्चात् ही आता है। यदि यह बात प्राकृतिक न होती, तो ऐसा क्यों होता ! परमात्मा ने स्त्रियों को गर्भ धारण करने के लिये तथा पुरुषों को गर्भाधान के लिये ही बनाया है। प्रधानतया मैथुन का भी उद्देश्य यही है।

साधारणतया पुरुषों के वीर्य के पकने में एक मास का समय लगता है, पर इस निश्चित समय के कुछ पहले और पीछे भी ऐसा होता है, इसका प्रधान कारण शारीरिक बलाबल समझना चाहिये।

बलवान मनुष्य के शरीर में आहार की रसादि क्रियाँयें शीघ्रता से होती रहती हैं। इसलिये उसका वीर्य भी कुछ पहले ही पक जाता है, पर दुर्बल मनुष्य का वीर्य और भी अधिक दिन में पकता है। इसका कारण यह है कि उसके शरीर में आहार की रसादि क्रियायें देर में होती हैं। यही बात स्त्रियों के रज के सम्बन्ध में भी पूर्ण रीति से घटती है।

अब हम एक मास के पश्चात् उत्पन्न होने वाले वीर्य तथा रज के कुछ सद्गुण नीचे लिखते हैं—

१—एक मास के पश्चात् जो वीर्य या रज उत्पन्न होता है, वह अत्यन्त जीवनी-शक्ति से भरा हुआ होता है।

२—ऐसे वीर्य तथा रज को गर्भाधान के अतिरिक्त किसी व्यर्थ सम्भोग में न व्यय करना चाहिये।

३—ऐसे असूल्य वीर्य तथा रज की आवश्यकता न हो, तो शरीर से पृथक् न करना ही उत्तम है।

४—ऐसे वीर्य रज से कान्ति, आयु, शक्ति, बुद्धि, क्षमा, सहिष्णुता, प्रीति, तेजस्विता तथा विनय-शीलता की वृद्धि होती है।

५—एक वर्ष के ब्रह्मचर्य से शरीर में अपरिमित वीर्य हो जाता है, जिससे की मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

७—वीर्य का स्थान और परिमाण

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं, बल पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भबीजं वपुः सारो, जीवस्याश्रय मुत्तमम्॥

(वैद्यक-शास्त्र)

शुक्र (वीर्य) जीवनी शक्ति का बढ़ाने वाला, श्वेत-वर्ण, चिकना बल तथा पुष्टि कारक होता है। यह गर्भ का बीज, शरीर का सार रूप तथा जीव का प्रधान आश्रय होता है।

वीर्य के स्थान और परिमाण के सम्बन्ध में बहुत से लोगों के मन में कुधारणायें उत्पन्न हो गई हैं। अतएव हम महर्षियों के लेख से दोनों बातों का निराकरण किये देते हैं।

यथा पयसि सर्पिस्तु, गूढ़श्चेक्षौ रसो यथा।
एवं हि सकले काये, शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥

(वैद्यक)

जैसे दूध में घी और ईख में रस गुप्त रूप से (दिखलाई नहीं पड़ता) रहता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर भर में वीर्य भी रहता है।

वास्तव में मनुष्य-शरीर में वीर्य के लिये कोई नियत स्थान नहीं है। यह सर्वाङ्ग में व्याप्त है। जिस अङ्ग से वीर्य की सत्ता उठ जाती है, वह शून्य हो जाता है। यदि वीर्य एक स्थान पर रहने वाला पदार्थ होता, तो इसके संरक्षण या नाश का भला-बुरा प्रभाव क्या सब अङ्गों पर न पड़ता ?

पृथक् स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम्।
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य, चत्वारो रजसस्त्रियाः॥

(वृद्ध वाग्भट्ट)

ओज, मस्तिष्क और वीर्य का मान पुरुष के अपने एक पसर (चुल्लू) के बराबर होता है। और स्त्रियों के दूध का परिमाण दो अँजुली तथा रज का चार अँजुली है।

ऊपर दिया हुआ वीर्य और रज का परिमाण स्वस्थ पुरुष और स्त्रियों का समझना चाहिये। अस्वस्थ पुरुष और स्त्रियों में रज का परिमाण इतना नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का मत है कि ४० कवर आहार से १ बिन्दु रक्त और ४० बिन्दु रक्त से १ बिन्दु वीर्य उत्पन्न होता है।

हमारे देश के कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि १ तोला वीर्य के लिये १ सेर रक्त और १ सेर रक्त के लिये १ मन आहार की आवश्यकता होती है।

अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि वीर्य का प्रभाव

सर्वाङ्ग पर होता है। वीर्य से ही सब इन्द्रियों में उचित शक्ति रहती है। वीर्य कितना अमूल्य पदार्थ है। यह कितने यत्न से बनता तथा प्राप्त होता है। उसकी यदि अवहेलना की जाय, तो इससे बढ़ कर क्या मूर्खता होगी? अतः जो लोग अपनी रक्षा चाहते हैं, वे सावधान हो कर मन, वचन तथा कर्म से अपने वीर्य की रक्षा करें।

८—सम्भोग से वीर्य-स्खलन

कृत्स्न देहस्थितं शुक्रं, प्रसन्न मनसस्तथा।
स्त्रीषुव्यायच्छतश्चापि, हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते॥

(वैद्यक)

समस्त शरीर में रहने वाला वीर्य, प्रसन्न चित्त वाले पुरुष के स्त्री-सहवास से प्रवृत्त होता है। अर्थात् एकत्र होकर बाहर निकल जाता है। इसका कारण एक प्रकार का इन्द्रिय-सम्बन्धी आनन्द (उद्रेक) है। यही बात स्त्रियों के सम्बन्ध में भी घटती है। पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध होने से उनका भी धातु-पात होता है।

वैद्यक-शास्त्र में लिखा है कि कामदेव के वेग से पुरुष और स्त्री के सम्भोग के कारण सारे शरीर में रहने वाला वीर्य, भीतरी अग्नि और वायु की प्रेरणा से एकत्र हो जाता है। वही हर्ष के उत्पन्न होने से अन्त में बाहर हो जाता है। जैसे दही के मथते रहने से घी के कण इकट्ठे हो जाते हैं, और बिलोने से एक में

मिल कर बाहर आ जाते हैं, उसी प्रकार संघर्षण के कारण सब अङ्ग में रहने वाला वीर्य भी एकत्र हो कर निकल जाता है।

> द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे, वस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
> मूत्रस्रोतः पथे शुक्रं, पुरुषस्य प्रवर्तते ॥

दाहिने पँसवाड़े से दो अंगुल वस्ति-द्वार के नीचे, मूत्र के स्रोत के मार्ग से मनुष्य का वीर्य निकलता है।

स्त्रियों का भी पुरुष के साथ सहवास से वीर्य-पात होता है, अन्यथा नहीं।

पुरुष-स्त्री का सम्भोग ही वास्तविक वीर्य-स्खलन का कारण होता है। इसके विरुद्ध जितने अन्य कार्य वीर्य के बाहर निकालने वाले हैं, अस्वाभाविक और हानि-कारक होते हैं। इस सम्भोग का भी विधान उचित समय के लिये ही किया गया है। अतः हम निवेदन करते हैं कि सम्भोग के अतिरिक्त वीर्यपात के कारणों से बचने का प्रत्येक पुरुष-स्त्री को प्रयत्न करना चाहिये। वह सम्भोग भी नियत तथा शास्त्रोक्त समय पर ही हितकर तथा आनन्द-वर्द्धक हो सकता है।

६—वीर्य के कार्य

> **यथा सहस्र ध्माते तु, न मलं किल काञ्चने।**
> **तथा रसे मुहुः पक्वे, न मलं शुक्रतां गते ॥**
>
> (वैद्यक)

जैसे सोने को सहस्र बार तपाने पर उसमें मल नहीं रह जाता, उसी प्रकार रस के कई बार पकते रहने पर, जब वीर्य बन

जाता है, तब उसमें फिर मल नहीं रहता। अर्थात् वीर्य के पश्चात् फिर कोई क्रिया शेष नहीं रहती।

हम पहले कह चुके हैं कि शरीर का सार वीर्य ही है। यही इसका आधार भी है। अतएव इसके कार्य भी बड़े महत्व के हैं। वे नीचे दिये जाते हैं:—

(१) वीर्य ही हृदय को पुष्ट तथा कर्तव्यशील बनाता है।

(२) वीर्य से ही सर्वाङ्ग में जीवनी-शक्ति सञ्चालित होती रहती है।

(३) वीर्य से ही मस्तिष्क शान्त और विचार-शक्ति-सम्पन्न रहता है।

(४) वीर्य से ही दृष्टि तथा श्रवण-शक्ति स्थिर रहती है।

(५) वीर्य से ही निर्भयता, स्वतन्त्रता, उत्साह, साहस तथा पराक्रम आदि गुण बढ़ते हैं।

(६) वीर्य से ही आलस्य, रोग, निर्बलता, कलुषता, दम्भ, अज्ञान तथा अविनय आदि दुर्गुण दूर किये जा सकते हैं।

(७) वीर्य के बिना सभी कार्य असिद्ध हो जाते हैं।

(८) वीर्य ही सन्तानोत्पत्ति का मूल है।

(९) वीर्य मनुष्य की सुन्दरता, सभ्यता, पवित्रता, धैर्य, पुण्य तथा सद्व्यवहार का कारण है।

(१०) कहने का सारांश यह है कि शरीर में वीर्य ही सब कुछ कार्य करता है। इसकी हीनता से सारे व्यापार हीन हो जाते हैं।

१०—जरा और मृत्यु

"मा पुरा जरसो मृथाः ।"

(अथर्ववेद)

हे जीव ! तू वृद्धता से पूर्व मत मर ।

"वृद्धत्वे जीवन-क्षयम् ।"

वृद्धता के आने पर ही आयुर्बल का नाश होता है ।

आज कल भी मनुष्य के मरने की अवस्था वृद्धता मानी गई है । जो लोग वृद्धता से पहले अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर देते हैं, उनके लिये लोग बहुत शोक करते हैं, पर इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं देते कि किस कारण से उसकी अकाल मृत्यु हुई । प्राचीन काल में वृद्धता से पहले लोग मरते ही नहीं थे । जिसके राज्य में कोई बालक या युवा मर जाता था, वह राजा अधर्मी समझा जाता था । श्रीराम के राजत्व में एक ब्राह्मण का युवा पुत्र मर गया, सो उस ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हो गया था । उस समय की और आज की परिस्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है । सौ में एकाध पुरुष ही अपना वृद्धता को प्राप्त कर सकते हैं । शेष निन्यानवे लोग बाल्य और युवावस्था में ही इस संसार से चल बसते हैं ।

इस दुःखमयी वार्ता का एक मात्र कारण ब्रह्मचर्य का अभाव है । जब तक इस देश में ब्रह्मचर्य का सुधार तथा प्रचार नहीं होता, तब तक इसका रोकना सम्भव नहीं ।

मनुष्य-शरीर की तीन अवस्थायें मानी गई हैं । बाल्य, और युवा के पश्चात् वृद्धावस्था होती है । इसलिये इस समय से पहले मरना पाप का कारण समझना चाहिये । अपने वीर्य की

रक्षा करने वाला पुरुष इससे पहले कभी मर नहीं सकता! इस कथन को हम सुवर्ण के पत्र पर निर्भयता से लिख सकते हैं।

शरीर के सम्बन्ध में विशेष अनुभव की बात कहने वाला ग्रन्थ आयुर्वेद माना जाता है। उसकी भी सम्मति है कि मनुष्य का जीवन उसके शारीरिक-गठन पर निर्भर करता है। आयुर्विज्ञान के प्राचीन आचार्यों ने बहुत कुछ इस सम्बन्ध में अनुसन्धान किया है। उनकी बातें कभी झूठी नहीं हो सकतीं।

पर आज तो अवस्था उसके विपरीत है। ऐसा क्यों हुआ? दिन पर दिन ब्रह्मचर्य का लोप होता गया। विलासिता और व्यभिचार के कारण मनुष्य-जाति अपने ईश्वर-दत्त दीर्घ-जीवन-रूप अधिकारों को खोती गई और वह इतनी पतित होती जा रही है कि अपना आयुर्वल रहते हुये भी अकाल मृत्यु के मुख में पड़ रही है। अतः हम बल पूर्वक इस बात को कहते हैं कि यदि मानव-जाति पुनः अपना उत्थान करना चाहती है—फिर भी वह अपने आयुर्बल की प्राचीन वैद्यक कथितोक्त मर्यादा बाँधना चाहे, तो ब्रह्मचर्य की प्रणाली के प्रचार और विधिवत् सुधार में देर न लगावे।

हमें पूरा विश्वास है कि १२० वर्ष के आयुर्भोग के लिये हमारी आश्रम-प्रणाली ही पर्याप्त होगी। इससे अधिक भी दीर्घ-जीवन प्राप्त किया जा सकता है, पर वह योगाभ्यास की क्रिया के अधीन है!

११—आयुर्बल का कारण

हृदयं चेतनास्थान मोजसश्चाश्रयं मतम् ।
शरीर प्राणयोरेवं, संयोगादायुरुच्येत् ।

(शार्ङ्गधर-संहिता)

हृदय चेतनता का स्थान और ओज का आश्रय-दाता है। इस प्रकार शरीर और प्राण के संयोग का नाम 'आयु' है।

मनुष्य-शरीर में हृदय एक बहुत ही उत्तम तथा आवश्यक पदार्थ है। महर्षियों का मत है कि गर्भ में भी पहले पहल इसका प्रादुर्भाव होता है।

चेतन तथा ओज का भी यही स्थान है। यहीं से रक्त का सञ्चालन और शुद्धीकरण होता है। प्राणों का भी इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस हृदय का हम इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं, वही आयु का भी कारण है। जिसका हृदय निर्बल हो जाता है, वह बहुत कम दिनों तक जीती है। इसलिये हृदय की पुष्टता आयु के लिये विशेष आवश्यक होना है। अतएव हम हृदय के पुष्ट रखने के लिये कुछ प्रधान बातें बतलाना चाहते हैं:—

(१) वीर्य-रक्षा से ही हृदय पुष्ट तथा कार्यकारी बन सकता है।

(२) प्राणायाम से वीर्य-रक्षा हो सकती है और हृदय स्वस्थ रह सकता है।

(३) व्यायाम से हृदय की शक्ति बढ़ती रहती है।

(४) उत्तम आहार से वीर्य बनता है और हृदय बलवान होता है।

(५) नीरोग रहने से हृदय कभी क्षीण नहीं होता।
ऊपर लिखी हुई बातों से हृदय बलिष्ठ और हर्षित रहता है। और यही हृदय आयु का कारण है। इसलिये जो लोग आयु के इच्छुक हों, वे अपने हृदय की रक्षा करते रहें। ऐसे कार्य न करें, जिससे कि उनका हृदय निर्बल हो जाय!

१२—वीर्य-क्षय से राजरोग

"नष्टे शुक्रे सर्वं रोगा भवन्ति।"

(सूक्ति)

वीर्य के अभाव में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

यह बात बहुत सत्य है कि जिसके शरीर में वीर्य की कमी हो जाती है, उसके शरीर में नाना प्रकार के रोग घर कर लेते हैं। वीर्य-नाश से जिन महा रोगों की उत्पत्ति होती है, हम उनमें से कुछ प्रधान रोगों का यहाँ संक्षिप्त रूप से वर्णन कर देना चाहते हैं:—

(१) प्रमेह

जब मनुष्य का वीर्य बिगड़ कर स्वयं शरीर से किसी न किसी रूप में बाहर निकलने लगता है, तब उसे 'प्रमेह' कहते हैं।

प्रमेह का नाम लेते ही एक बार हृदय धड़कने लगता है। यह अत्यन्त भयङ्कर और भारत-व्यापी रोग है। वैद्यक-शास्त्र में दोषों के भेद से यह २० प्रकार का माना गया है। इसकी अन्तिम

अवस्था में प्राणों का नाश हो जाता है। इसके उत्पन्न होने के निम्नलिखित कारण बतलाये गये हैं:—

अधिक वीर्य नष्ट करने से—कुसमय में सम्भोग करने से—प्रकृति-विरुद्ध कार्य करने से—नया पान, गुड़, दही, दूध, तैल, मिर्चा और खटाई आदि अधिक खाने से—विशेष मछली-मांस के सेवन से तथा कफ-वर्द्धक पदार्थों के खाने से प्रमेह रोग उत्पन्न होता है। सब प्रकार के प्रमेह चिरस्थायी नहीं होते, पर वीर्य-क्षय से जो उत्पन्न होता है, वही हानिकारक होता है।

आजकल प्राय: ९५ सैकड़े लोग इस प्राण-विनाशक रोग के हाथ में पड़े हुये हैं। बहुत से लोग ऊपर से देखने में बड़े हृष्ट-पुष्ट दीखते हैं, पर भीतर ही भीतर उनमें प्रमेह बढ़ता रहता है। पहले तो इसका लोगों को ज्ञान नहीं होता, पर जब यह प्रबल हो जाता है, तब लोगों को इसकी चिन्ता व्यापती है। यदि अच्छे चिकित्सक से काम पड़ा और उसके कहने के अनुकूल संयम किया गया, तब तो कुछ आशा होती है, नहीं तो मरकर ही मनुष्य की इससे मुक्ति होती है।

प्रमेह में सर्वाङ्ग का वीर्य मूत्र के साथ अनिच्छापूर्वक बाहर निकलने लगता है। जब यह अधिक बढ़ जाता है, उस अवस्था में सब धातु इसी के साथ गल-गल कर शरीर के बाहर हो जाती हैं। वह मनुष्य निस्तेज, दुर्बल, पीला, अज्ञानी, उन्मादी और चिड़चिड़ा हो जाता है। उसे भोजन नहीं पचता, दस्त ठीक नहीं होती—निद्रा अच्छी तरह से नहीं आती और मस्तिष्क में साँय-साँय शब्द होते रहते हैं। प्रमेही पुरुष मरण से बढ़कर कष्ट सहता हुआ थोड़े ही दिनों में काल का ग्रास बनता है।

(२) क्षय या यक्ष्मा

इसमें शरीर के सारे दोष प्रकुप्त होकर नष्ट होने लगते हैं और हृदय और फुफ्फुस असमर्थ हो जाते हैं। इसी को 'क्षय' कहते हैं। क्षय या यक्ष्मा भी प्रमेह की भाँति बड़ा भयानक संक्रामक रोग है। अनेक नवयुवक इसके कारण अपने प्राणों को असमय में खो बैठते हैं।

इसके प्रारम्भ होने के भी कई कारण हैं, पर सर्व-प्रधान कारण वीर्य-नाश ही है। जो पुरुष बाल्यावस्था से ही विषय-वासनाओं में फँसकर, अपनी आन्तरिक धातुओं को दुर्बल कर डालते हैं, वे कदापि इससे नहीं बँच सकते।

हमने अपनी आँखों देखा है कि यौवनावस्था में मरने वाले पुरुष प्रायः इसी रोग से ग्रस्त होते हैं। बहुत सी युवती दुष्कर्मिणी स्त्रियाँ भी इस रोग से मरती हैं। अनियमित रूप से वीर्य का क्षय करने से हृदय और फुफ्फुस में रक्त के सञ्चालन और शोधन की शक्ति नहीं रह जाती। वीर्यादि सात धातुओं के बनने की क्रिया नष्ट हो जाती है। दिन पर दिन विकार बढ़ता जाता है। मन्दाग्नि, अरुचि, संग्रहणी और वातव्याधि आदि रोग भी इसके कारण उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य सर्वाङ्ग से क्षीण होकर एक दिन अकाल मृत्यु से मारा जाता है।

इस रोग के प्रारम्भ में वीर्य-रक्षा का कड़ा नियम है। इस क्रिया से उस क्षयी मनुष्य का जीवन कुछ बढ़ जाता है। यदि इतने पर भी इन्द्रिय-लोलुपता न छूटी, तो वह मनुष्य और भी पहले निष्प्राण होकर, अपने कुल वालों को शोक में छोड़ जाता है।

(२) स्वप्न दोष

"नास्ति जागरितो भयम् ।"

(चाणक्य नीति)

जागृत रहने वाले पुरुष को किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

रोगों में 'स्वप्न-दोष' भी अत्यन्त भयङ्कर रोग है। जिसे एक बार लग जाता है, उसके प्राणों की बनती है। इसकी भी अन्तिम अवस्था मृत्युकारक होती है।

यह रोग विद्यार्थियों और विवाहित पुरुषों का जन्म-संघाती हो जाता है। हमने बहुत से लोगों को इससे पीड़ित देखा है।

स्वप्न-दोष से मुख की प्रसन्नता जाती रहती है—बुद्धि नष्ट हो जाती है—हृदय में दुर्बलता आ जाती है—चित्त में हर समय उदासीनता रहती है और कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। मेरुदण्ड तथा सिर में पीड़ा अधिक होती रहती है। स्मरण-शक्ति घट जाती है और अनेक शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

रात में सो जाने पर जो दृश्य दिखलाई देता है, वह मनुष्य को सत्य जान पड़ता है। इसीसे वह उसमें लिप्त हो जाता है। कभी ऐसा जान पड़ता है कि एक युवती स्त्री आई और उससे जाकर सम्भोग करने लगता है। फिर क्या! क्षणमात्र में उसका वीर्य शरीर से बाहर हो जाता है और निद्रा टूट जाती है। इस प्रकार वीर्य-क्षय का नाम स्वप्नदोष है। स्वप्न-दोष में वास्तविक स्त्री-प्रसङ्ग से कहीं अधिक वीर्य-पात होता है। स्वप्न-दोषी पुरुष कुछ दिनों में अशक्त और हतवीर्य हो जाता है। इसके उत्पन्न होने के निम्नलिखित कारण हैं:—

शरीर में अधिक शीतोष्णता के बढ़ने से—विशेष चिकना पदार्थ के खाने से—अत्यन्त परिश्रम, चिन्ता और शोक से—उतान होकर सोने से—काम सम्बन्धी विचार कर सोने से तथा अस्वाभाविक या स्वाभाविक रीति से वीर्य-नाश करने से यह विकार उत्पन्न होता है।

प्रारम्भ में इसे साधारण रोग समझ कर लोग छोड़ देते हैं। जब प्रबल हो जाता है, तब किसी प्रकार नहीं रुक सकता। अन्त में शारीरिक तथा मानसिक समस्त शक्तियों को नष्ट कर प्राणों का घातक बन जाता है।

(४ नपुंसकता

"वीर्यवाहि शिराधारौ, वृषणौ पौरुषा वहौ।"

(शार्ङ्गधर-संहिता)

वीर्य-वाहिनी शिराओं के आधार अण्डकोष होते हैं। और ये ही पुंसत्व के देने वाले हैं।

वैद्यक-शास्त्र में कई प्रकार के नपुंसकों का वर्णन है, पर जिस नपुंसक का हम वर्णन करते हैं, वह और भी विचित्र होता है। जो लोग दैवी प्रकोप से नपुंसक होते हैं, उन्हें तो कुछ कहना ही नहीं, पर यह नपुंसक अपने पुंसत्व को कुकर्मों द्वारा खो कर होता है।

भारतवर्ष में इस 'नपुंसकता' का रोग दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इसकी चिकित्सा भी नहीं होती। इस नपुंसकता में बड़े-बड़े लोग फँस जाते हैं। इसके उत्पन्न होने के निम्नलिखित प्रधान कारण हैं:—

(१) अत्यन्त मैथुन, बहुस्त्री-गमन—बाल-विवाह तथा अनैसर्गिक सम्बन्ध से नपुंसकता उत्पन्न होती है।

(२) किसी कारणवश पुरुष होने की योग्यता न रहने का नाम "नपुंसकता" है। इस नपुंसकता में वृद्धों की कौन कहे, थोड़ी-थोड़ी अवस्था के नवयुवक भी फँस रहे हैं। शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध न रहने के कारण प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल जाकर असमय में ही लोग अपने पुंसत्व को खो बैठते हैं।

(३) जीवनाधार अण्डकोषों की शक्ति क्षीण हो जाती है—शिस्नेन्द्रिय में उत्तेजना नहीं रहती—तनिक भी कामेच्छा होते ही वीर्य स्खलित हो जाता है—संसार का साधारण से साधारण कार्य भी उनसे नहीं किया जा सकता और अपनी स्त्री से मुँह छिपाना पड़ता है। इस रोग का रोगी गर्भाधान नहीं कर सकता। उसके वीर्य से यदि बालक हो भी जाय तो वह जीता नहीं बचता।

(४) नपुंसक पुरुष प्रायः मूर्ख, रोगी, लोभी, क्रोधी, कामी, दरिद्र तथा अल्पायु होता है।

१३—वीर्य-रक्षा से लाभ

"ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।"

(दक्ष-संहिता)

आठ प्रकार के मैथुनों से परे जो ब्रह्मचर्य है, उसकी सदा रक्षा करनी चाहिये।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।"

मनुष्य को निज कृत शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य मिलता है।

ब्रह्मचर्य का अभिप्राय वीर्य-रक्षा है। वीर्य ही जीवन और शरीर का राजा है। इसके सञ्चित करने का बड़ा महत्व है। हमारे आर्य ऋषियों की महत्ता और उच्च ज्ञान-तपोनिष्ठा का प्रधान कारण भी यही ब्रह्मचर्य था। बड़े-बड़े विद्वान्, ज्ञानी, शूरवीर, यशस्वी तथा तेजस्वी होने का यही एक मूल कारण है। इससे होनेवाले कुछ लाभों का हम यहाँ संक्षिप्त रूप से वर्णन करते हैं:—

(१) ब्रह्मचर्य के बल पर असाध्य से असाध्य कर्म अविलम्ब किये जा सकते हैं। इसीलिये कार्य की सिद्धि तक लोग ब्रह्मचर्य से रहते हैं।

(२) ब्रह्मचर्य की शक्ति से तेजोवीर्य, शान्ति और आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह बात हमें ऋषियों के उपदेश से ज्ञात होती है।

(३) जो पुरुष देश, धर्म और जाति की सेवा तथा रक्षा करना चाहे, वह ब्रह्मचर्य से रहने का यत्न करे।

(४) अन्तःकरण के पवित्र और शान्त रखने के लिये ब्रह्मचर्य ही परमौषध है।

(५) सदैव प्रसन्न और सुखी रहने का उपाय अक्षुण्ण ब्रह्मचर्य है।

(६) जीवन की सफलता; सुन्दर स्वास्थ्य, हृष्ट-पुष्ट अङ्गता, कार्य-कारिता और उद्यम-शीलता के लिये ब्रह्मचर्य अमृत रूप है।

(७) सदुद्देश्य, सदाचार, स्वात्म-शासन, स्वाधीन विचार और विश्व-प्रेम, ये सब गुण ब्रह्मचर्य के वशीभूत हैं।

(८) सुसन्तान, स्त्री-सुख, कुटुम्ब की अनुकूलता तथा सम्बन्धियों का सद्व्यवहार, सब की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है।

(९) ब्रह्मचर्य से ही अमृत का लाभ कर वासना रूपी कुरोगों का नाश किया जा सकता है।

(१०) ब्रह्मचर्य से ही, दिव्य-ज्ञान और सच्चे अनुभव मिलते हैं, जिनसे मनुष्य दुर्भावना तथा दुष्कर्मों से मुक्ति पा जाता है।

फलतः ब्रह्मचर्य की रक्षा से अलभ्य लाभ होते हैं। जो लोग इसे धारण करते हैं, वे ही इस के स्वाद को कुछ जान सकते हैं।

१४—वीर्य-नाश से हानि

"सर्वस्वानुष्ठितं कार्यं, हन्यतेऽब्रह्मचर्यया।"

(सूक्ति)

मनुष्य का सब अनुष्ठान किया हुआ कार्य ब्रह्मचर्य के नाश से नष्ट हो जाता है।

"विवेक-भ्रष्टानां, भवति विनिपातः शतमुखः।"

(भर्तृहरि-शतक)

जो लोग विवेक से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे बराबर पतित होते जाते हैं।

ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अनेक उपद्रव खड़े हो जाते हैं। इसके दुष्परिणामों की संख्या भी नहीं लगाई जा सकती। फिर

भी हम इसके अभाव से होने वाली हानियों का कुछ वर्णन यहाँ पर कर देना चाहते हैं:—

(१) ब्रह्मचर्य के नाश से अन्तःकरण अपवित्र और दुर्बल हो जाता है।

(२) वीर्य-क्षय से मन मलीन, शरीर हीन और आत्मा अनुत्साही बन जाता है।

(३) ब्रह्मचर्य का नाश करनेवाला पुरुष बिना तेल के दीपक की भाँति बुझ जाता है।

(४) वीर्य-नाश से पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहती हैं, जो रोकी नहीं जा सकतीं।

(५) बड़े-बड़े पुरुष भी ब्रह्मचर्य से पतित होते ही संसार में श्रीहत हो गये।

(६) वीर्य-क्षय से धातु-रोग, रक्तविकार, शिरोरोग, दृष्टि-हीनता, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता, ग्रन्थि, बात, पक्षाघात, मन्दाग्नि, हृदय हीनता, आलस्य, उन्माद भ्रम, मृगी, श्वास, क्षय आदि अनेक शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(७) वीर्य-नाश से आनन्द, साहस, धैर्य, वीरत्व, तेज, शान्ति, ज्ञान और सद्विचार आदि नष्ट हो जाते हैं।

(८) वीर्य-नाश से बढ़ कर महा पातक है ही नहीं।

(९) वीर्य-क्षय, धर्म और धन के क्षय का कारण बनता है।

(१०) एक बिन्दु वीर्य-नाश से असंख्य जीवों की हत्या होती है।

१५—अमोघवीर्य और ऊर्ध्वरेता

"ब्रह्मचारी न काञ्चन आर्तिमार्च्छति ।"

(शत०ब्रा०)

ब्रह्मचारी को कभी किसी भाँति का कष्ट नहीं होता ।

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति ।
तस्मिन्देवाअधिविश्वेसमोता॥"

ब्रह्मचारी तेजस्वी वीर्य का संग्रह करता है । इसलिये उसमें समस्त देवगण वास करते हैं ।

वीर्य-भेद से अमोघवीर्य और ऊर्ध्वरेता नाम के दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते हैं । इन दोनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से संसार की सेवा होती है । इसलिये ये सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं ।

'अमोघवीर्य' का अर्थ है—अपरिमित वीर्य वाला—और 'ऊर्ध्वरेता' का अर्थ है—वीर्य को ऊपर धारण करनेवाला । अमोघवीर्य का यह लक्षण है कि उसका वीर्य कभी निष्फल नहीं होता । उसके वीर्य से एक वार में निश्चय पूर्वक गर्भाधान हो जाता है और ऊर्ध्वरेता का यह है कि उसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित नहीं होने पाता अर्थात् वीर्य उसके अधिकार में रहता है ।

ऊपर के कहे हुए दोनों प्रकार के सिद्ध ब्रह्मचारी हैं । त्रिविध ब्रह्मचर्य के पालन से प्रत्येक पुरुष अमोघवीर्य और ऊर्ध्वरेता वन सकता है । दो में से एक वनना ही ब्रह्मचर्य का सच्चा 'प्रमाण-पत्र' है ।

प्राचीन समय में हमारे ऋषि लोग दोनों प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे । वहुत से आर्य राजा भी ब्रह्मचर्य की सिद्धियाँ प्राप्त कर

चुके हैं। महर्षियों में वशिष्ठ, पराशर और यमदग्नि तथा राजाओं में सगर और धृतराष्ट्र अमोघवीर्य के उदाहरण हैं। देवव्रत भीष्म और महावीर हनुमान ऊर्ध्वरेता थे।

अमोघवीर्य की अपेक्षा ऊर्ध्वरेता बनना परम कठिन है। अमोघवीर्य अपनी सिद्धि से इच्छित सन्तान उत्पन्न कर सकता है, पर यह आज्ञा ऊर्ध्वरेता के लिये नहीं है। उसे अपनी महावीर्यता से केवल संसार-सेवा करने का अधिकार है। अमोघवीर्य बनने के लिये नियमित ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है, पर ऊर्ध्वरेता के लिये ब्रह्मचर्य के साथ साथ योग का भी अनुशासन है। अमोघ-वीर्य होने से सर्वाङ्ग में वीर्य की गति होती रहती है। इससे शरीर बलवान हो जाता है—मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है--उत्साह और साहस नहीं नष्ट होता—मुख की कान्ति नहीं घटती एवं शीघ्र वृद्धता नहीं आती। उसकी सन्तान में भी तेजस्विता, विद्वत्ता और गुणज्ञता स्वाभाविक होती है। ऊर्ध्वरेता होने से वीर्य कभी नष्ट नहीं होता। इसलिये सब शरीर वज्र बन जाता है—रोगों का आक्रमण नहीं होता—दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है तथा परमात्मा की भी अविलम्ब प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि मृत्यु को भी अधिकार में किया जा सकता है। उस का कोई व्रत निष्फल नहीं हो सकता। अब पाठक अमोघवीर्य और ऊर्ध्वरेता होने का तात्पर्य भली भाँति समझ गये होंगे। इस समय हमारे देश और समाज को दोनों प्रकार के ब्रह्मचारियों की नितान्त आवश्यकता है। बिना इनके सुधार होने की आशा केवल निराशा है।

१६—ब्रह्मचर्य के कुछ उपदेश

१—ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य को इहलोक और परलोक के सुधारने का साधन मिलता है ।

२—शास्त्रार्थ में और युद्ध में विजयी बनाने वाला ब्रह्मचर्य ही है ।

३—दीर्घ जीवन, उत्तम स्वास्थ्य, सुसन्तान तथा सम्पत्ति के लिये ब्रह्मचर्य ही परम साधन है ।

४—एक ब्रह्मचारी पुरुष सौ यज्ञ करने वालों से श्रेष्ठ और प्रशंसित है ।

५—वीर्य ही इस शरीर का राजा है । इसके क्षीण होने से शारीरिक सभी शक्तियाँ दुर्बल और निस्तेज हो जाती हैं ।

६—वीर्य का एक एक कण जीवनी शक्ति से भरा हुआ है । जो इसे रक्षित रखता है, वह अपना आयुर्बल बढ़ाता है ।

७—जब तक वीर्य अपरिपक्व है, तब तक इसे कभी नष्ट न करना चाहिये ।

८—जो यौवनावस्था में अपने वीर्य का नाश कर देता है, वह कभी सुखी नहीं हो पाता ।

९—वीर्यवान होने के कारण ही प्राचीन लोग बड़े विद्वान् और पराक्रमी होते थे ।

१०—हीनवीर्य पुरुष को अपने कामों में बहुत कम सफलता मिलती है ।

११—काम-विकारों को दबा देना ही इन्द्रिय-दमन है । जिसका मन शुद्ध और संयमी है, वही अपने वीर्य को रोक सकता है ।

१२—आदर्श ब्रह्मचर्य वही है, जिसमें मन में भी काम-विकार उत्पन्न न हो। यही वीर्य रक्षण का प्रधान उपाय है।

१३—अध्यापकों का धर्म है कि वे सब से पहले बालकों को ब्रह्मचर्य की महत्ता समझा कर फिर विद्यादान करें।

१४—पुरुष को कम से कम २५ वर्ष और स्त्री को १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये। कारण यह है कि इतनी अवस्था तक उनका वीर्य और रज अपरिपक्व रहता है।

१५—जो लोग अपने अपरिपक्व वीर्य को नष्ट करते हैं, वे अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को हीन कर देते हैं।

१६—वीर्य की परिपक्वता से सब शक्तियाँ भी परिपक्व और दृढ़ हो जाती हैं।

१७—वेद में पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य-पालन की आज्ञा है।

१८—ब्रह्मचर्य के बल से ही राजा पृथु ने समस्त पृथिवी को अधिकार में कर लिया था। ब्रह्मचर्य से ही परशुरामजी ने इक्कीस बार भूमण्डल के क्षत्रियों का नाश किया था। ब्रह्मचर्य के ही संरक्षण से भगवान् शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया था। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से मार्कण्डेय ऋषि अमर हो गये। ब्रह्मचर्य की ही शक्ति से नचिकेता नाम के बाल-ब्रह्मचारी यमराज के यहाँ से सानन्द लौट आये। ब्रह्मचर्य से ही पितामह भीष्म महाभारत में अद्वितीय पुरुष कहलाये। ब्रह्मचर्य से ही हनुमानजी का नाम महावीर पड़ गया और वे जन्म भर श्रीरामचन्द्र के प्रिय सेवक और जानकी के दयापात्र बने रहे। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही लक्ष्मण जी ने महाबली मेघनाद को मारा। ब्रह्मचर्य के ही बल से *श्रीराम*

ने जनकपुर में शिवजी के भीषण पिनाक को खण्ड-खण्ड कर डाला। ब्रह्मचर्य की ही महिमा से शुकदेवजी को ८८ सहस्र बड़े-बड़े ऋषियों में उच्चासन दिया गया। ब्रह्मचर्य-व्रत से ही शङ्करा-चार्य ने पुनः वैदिक धर्म का प्रचार किया। ब्रह्मचर्य के ही पालन से स्वामी दयानन्द ने पाखण्डों का खण्डन कर सत्य धर्म को पुनः जागृत किया। जो कुछ संसार में उत्तमता नाम से प्रसिद्ध है, वह सब ब्रह्मचर्य की ही विभूति है।

षष्ठ खण्ड
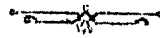
१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्,
विश्वानि देव वयुर्नानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जु हुराण मेनो —
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(यजु० अ० ४० म० १६)

हे अग्नि-रूप परमेश्वर ! तुम सब संसार के मार्ग प्रदर्शक हो। अतएव तुम हमें उत्तम मार्ग से चलाओ ! जो हम में दुर्गुण हों, उन्हें बल-पूर्वक दूर करो ! हम तुम्हारी स्तुति करते हैं कि तुम हमें सुबुद्धि प्रदान करो !

तुम में अग्नि की सी तेजस्विता और दिव्यता है। तुम्हारी प्रार्थना से हमारे पापों का नाश होता है। हमें तुम आत्मतेज प्रदान कर दो, ताकि हम स्वयं अपने दुर्गुणों को नष्ट कर सकें। तुम में सर्वज्ञता है। वह बुद्धि के ही बल से प्राप्त होती है। यह ज्योति जिसे प्राप्त हो जाती है, वही निर्मल और निर्भय रह सकता है। हम तुम्हारी इसी के हेतु उपासना करते हैं। कृपा कर हमें बुद्धि-मान बनाओ, जिससे कि ब्रह्मचर्य में विघ्न न पड़ने पर हम दुर्गुणों का शीघ्र नाश कर सकें !

२—आधुनिक विद्यार्थी

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः॥

चित्त के अधीन मनुष्य का वीर्य होता है, और वीर्य के वश में जीवन है। इसलिये मन और वीर्य की यत्न-पूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

आजकल देश का वायु-मण्डल इतना दूषित हो गया है कि उसके कारण हमारे बालक-विद्यार्थियों का सर्वनाश हो रहा है। जो विद्यार्थी शिक्षा के प्रधान पात्र समझे जाते हैं, वे अब दुर्गुणों के भंडार या यों कहिये कि उत्पादक हो रहे हैं।

विद्यार्थी-अवस्था में बालकों की देख-रेख की बड़ी आवश्यकता है। उन पर जो संस्कार इस अवस्था में डाले जाते हैं, वे सर्वदा के लिये स्थायी होते हैं।

वास्तव में विद्यार्थी-जीवन बड़े महत्व का होता है। इस प्रारम्भिक अवस्था में ही भाग्य-निर्माण का गुरुतर काम किया जाता है। इसी समय में विद्यार्थी को जितेन्द्रियता, परोपकार, ब्रह्मचर्य, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान तथा संसार के विविध प्रकार के कला-कौशल का ज्ञान कराया जा सकता है। अतएव यह छात्रावस्था बड़े दायित्व की समझी जानी चाहिये।

अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वर्तमान समय के विद्यार्थियों की दशा बड़ी शोचनीय हो रही है। वैदिक आर्य-धर्म-प्रणाली से शिक्षा न होने के कारण आधुनिक विद्यार्थी-समाज में नाना प्रकार के दोष घुस गये हैं। बालकों को सच्ची

शिक्षा तो दी ही नहीं जाती। उन्हें धर्म की शिक्षा न मिलने के कारण वे अपने जीवन को किसी योग्य नहीं बना पाते। बाल्यावस्था से ही उन पर कुसंस्कार पड़ने लगते हैं। विद्या के अपूर्ण अङ्गों से उनमें पूर्ण ज्ञान का प्रकाश नहीं होने पाता। अज्ञानता-वश वे बुरे व्यसनों के अभ्यासी बन जाते हैं। सौ में पाँच विद्यार्थी भी ब्रह्मचारी तथा कर्मनिष्ठ नहीं निकलते। विद्यालयों में साक्षरता के साथ साथ अनेक दुर्गुण प्राप्त हो जाते हैं, जो यौवनावस्था में उसके पतन के प्रधान कारण होते हैं।

यह बात पूर्ण रूप से देखी गई है कि आधुनिक शिक्षितों की अपेक्षा अशिक्षित लोग विशेष संयमी, ब्रह्मचारी, स्वस्थ तथा चतुर होते हैं! ऐसा क्यों? इसका उत्तर यही है कि आधुनिक विद्यार्थी-जीवन में अनेक दुर्गुण घर जाते हैं! शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की है कि उनका संशोधन नहीं कर सकती। अतः बड़े सुधार की आवश्यकता है।

हमारे प्यारे विद्यार्थियों, यदि तुम सच्चे विद्यार्थी बन कर कुछ संसार की सेवा करना चाहते हो तो, उस कुशिक्षा से बचो, जिसमें पढ़ कर सदाचार, स्वास्थ्य, ज्ञान, आत्मतेज तथा धर्म का नाश होता हो। यदि हमारी सम्मति लेना चाहते हो तो, तुम गुरुकुलों की शिक्षा को प्राप्त कर, ब्रह्मचारी, विद्वान् तथा तेजस्वी बन कर, अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक करो! तुम्हारी शक्ति, ज्ञान, तुम्हारी इच्छा और तुम्हारे साहस से ही स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। हत-वीर्य लोगों के हाथों में कभी भी शासन नहीं ठहर सकता। यदि धर्म के प्रति, जाति के प्रति और परमेश्वर के प्रति तुम्हारी कुछ भी श्रद्धा है और यदि तुम अपने को योग्य

बनाना चाहते हो, तो ब्रह्मचारी बनो—वीर्य के एक बिन्दु को भी नष्ट न होने दो!

३—अपक्व वीर्य-पात के दोष

"मरणं विन्दुपातेन, जीवनं बिन्दु-धारणम्।"

वीर्य के एक विन्दु नष्ट का होना मरण और एक बिन्दु का धारण करना जीवन है।

"अपक्वं दोष-कारणम्।"

अपरिपक्व वस्तु में दोष होते हैं।

वास्तव में अपरिपक्वता बड़ी बुरी वस्तु है। इसकी रक्षा से ही जीवन में सफलता मिल सकती है। इस विषय में बहुत उत्तम कहा गया है:—

वनस्पते रपक्वानि, फलानि प्रचिनोतियः।
सनाप्नोति रसं एभ्यो, वीजं चास्य विनश्यति॥

(सूक्ति)

जो पुरुष विना पकी हुई वनस्पति के फलों को तोड़ना चाहता है उसे उसमें रस नहीं मिलता और उसका वीज भी नष्ट हो जाता है।

कच्चे फल में मीठा रस नहीं होता। उसके वीज में पुष्टता और उत्पादन-शक्ति नहीं रहती। अतः उचित समय पर ही फल लेना योग्य है।

यही वात मनुष्यों के लिये भी घटती है। मनुष्य शरीर में जब तक वीर्य अपरिपक्व है, तब तक उसकी रक्षा करनी चाहिये।

वीर्य के बल से सब कार्य होते हैं। इसके बिना सारे कार्य निष्फल होते हैं।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वा गत वीर्यौ तौ, जानीयात् कुशलो भिषक्॥

पच्चीस वर्ष में पुरुष का वीर्य और सोलह वर्ष में स्त्री का रज दोनों समान हो जाते हैं। इस बात को चतुर वैद्य जान सकते हैं।

यदि लोग इस वचन का उल्लङ्घन कर वीर्य-पात करने में प्रवृत्त हों, तो इससे निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं:—

(१) कच्चे वीर्य के बाहर होने से शरीर की सभी धातुयें निस्तेज हो जाती हैं।

(२) शारीरिक विकास और सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

(३) ओज की कमी हो जाने से प्रसन्नता और उत्साह भी घट जाता है।

(४) सब अङ्गों की शक्ति घट जाने से आयुर्बल भी कम हो जाता है।

(५) असमय में आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है। मुख के दाँत गिर जाते हैं। बाल भी पकने लगते हैं।

(६) पुरुष थोड़े ही दिनों में नपुंसक हो जाता है और स्त्री आर्त्तव से हाथ धो बैठती है।

(७) पहले तो सन्तान उत्पन्न नहीं होती। यदि होती भी है, तो बहुत कम दिन जीनेवाली और सब अङ्गों से दुर्बल होती है।

४—वीर्य-नाश के प्रधान कारण

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते।
येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

(सूक्ति)

विकार उत्पन्न करने वाले कारणों के रहने पर भी, जिन पुरुषों की मनोवृत्तियाँ नहीं बिगड़तीं, वे ही धीर कहलाते हैं।

हमारी आय-जाति का दिन पर दिन पतन होता जा रहा है। इसकी चिन्ताजनक अवस्था पर विचार करने से एक वार हृदय पर घोर आघात होता है। प्राचीन गौरव के इतिहास की आधुनिक परिस्थिति से मिलाने से यही बात ज्ञात होती है कि इसकी अवनति का प्रधान कारण 'वीय-नाश' है। जब तक जाति में विषय-वासनाओं से घृणा रहती है, व्यभिचार बुरी दृष्टि से देखा जाता है, ब्रह्मचर्य-विद्या के लिये पूर्ण रूप से उद्योग होता रहता है और सदाचार की शिक्षायें बढ़ती रहती हैं, तब तक वह कदापि उन्नति के शिखर से नहीं गिरती। जिस देश में वीर्य-नाश प्रारम्भ हो जाता है, वह अधिक दिनों तक नहीं जी सकता।

अब हम वीर्य-नाश के कई प्रधान कारणों का उल्लेख यहाँ पर कर देना चाहते हैं, जो जनता में अपना विकराल रूप धारण कर उसको रसातल की ओर ले जा रहे हैं।

(१) बाल-विवाह

इसमें निर्बोध बालक का विवाह एक अबोध बालिका के साथ कर दिया जाता है। ये दोनों अज्ञानतावश विषय में रत होकर कुछ दिनों में हत-वीर्य हो जाते हैं और इससे प्राणों का भय भी हो जाता है। यदि पुरुष मरा तो जन्म भर वह स्त्री विधवा दुःख उठाती है, और यदि स्त्री मरी तो उसका हीन-वीर्य पति दूसरी कन्या से विवाह कर उसका भी सर्वनाश कर देता है।

देखिये! बाल विवाह के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द क्या कहते हैं:—

"जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्या-रहित बाल्यावस्था में विवाह होता है, वह देश दुःख (सागर) में डूब जाता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य-विद्या के ग्रहण-पूर्वक विवाह के सुधार से सुधार और बिगाड़ से बिगाड़ होता है।"

अब हम बाल-विवाह से होनेवाली कुछ हानियों को नीचे लिखते हैं:—

(१) तेजस्वी बालक भी बाल्यावस्था के विवाह से मूर्ख तथा हतभागी बन जाता है।

(२) प्रथम तो सन्तान होती ही नहीं, यदि होती भी है, तो रोगी और निर्बल हो कर शीघ्र ही मर जाती है।

(३) युवावस्था आते आते सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

(४) बाल-विवाह से बालिकाओं का भी वही अहित होता है, जो बालकों का।

(५) बालिकायें रुग्णा, निर्बला, कुलटा, बुद्धिहीना होकर शीघ्र मर जाती हैं।

(६) बाल-विवाह से देश और जाति की सब से बड़ी हानि होती है।

(२) वृद्ध-विवाह

"वृद्धस्य तरुणी विषम्।"

(सूक्ति)

वृद्ध पुरुष के लिये तरुणी स्त्री विष के समान होती है।

इसमें धन के लोभ से एक वृद्ध पुरुष के साथ निरी बालिका का विवाह कर दिया जाता है। जब तक वह युवती होती है, तब तक ये यमपुरी को प्रस्थान कर देते हैं। वह अब अबला वैधव्य के कठोर दण्ड को न सहकर गुप्त रूप से व्यभिचार करती है। गर्भ रह जाने पर भ्रूण-हत्या के पाप को भी लाज-भय के कारण कर बैठती है। इस प्रकार भी काम न चला, तो वह घर से बाहर निकल जाती है, और वेश्या हो जाती है या किसी विधर्मी के यहाँ आश्रय पाती है।

वृद्धावस्था में मैथुन की शक्ति यों ही घट जाती है। इस समय पुरुष को जितेन्द्रिय होकर योग-द्वारा जीवन व्यतीत करना लिखा है। इसी अवस्था में संसार में धर्म तथा जाति की सेवा हो सकती है। पर हमारे अज्ञानी वृद्ध हिन्दू-धर्म के मूलोच्छेदन पर तुले हुये हैं। इससे बढ़कर परिताप की और क्या बात होगी!

देखिये, वृद्ध-विवाह के सम्बध में स्वामी स्व०श्रद्धानन्द जी क्या कहते हैं:—

"वृद्ध-विवाह से विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। इनके कारण समाज में बड़ी असमर्यादा हो रही है,पर द्विजाति लोग इनका उद्धार करने से डरते हैं। इसलिये हमारा तो यही अनुरोध है कि ४० वर्ष की अवस्था के पश्चात् किसी पुरुष का विवाह न होने देना चाहिये।"

अब हम वृद्ध-विवाह से होने वाली कुछ हानियों को नीचे लिखते हैं :—

(१) वृद्ध-विवाह से कुल का नाश हो जाता है।

(२) जाति में स्त्रियों की कमी से नवयुवकों का अधिकार छिन जाता है।

(३) विधवायें अधिक उत्पन्न होती हैं।

(४) वृद्ध से विवाहित स्त्रियाँ व्यभिचार कराती हैं।

(५) बहुत सी आत्म-हत्यायें और भ्रूण-हत्यायें हो जाती हैं।

(६) वृद्ध पुरुष की सन्तान में अनेक दुर्गुण होते हैं।

(७) वृद्ध लोग समाज की सेवा से विरक्त रह जाते हैं।

(८) वृद्ध-विवाह से देश में वेश्याओं की संख्या बढ़ती है।

(३ वेश्या-गमन

वेश्यासौ मदन-ज्वाला, रूपेन्धन समेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च॥

(भर्तृहरि-शतक)

यह वेश्या रूप-ईन्धन से सजाई हुई कामाग्नि की ज्वाला होती है। कामी पुरुष इसमें अपने यौवन और धन की आहुती देते हैं।

आज कल जहाँ जाइये, वहाँ वेश्याओं की वृद्धि होती देख पड़ेगी। इससे अनुमान होता है कि इनके चाहने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। वेश्याओं से बड़े-बड़े नगरों की शोभा बढ़ाई जाती है।

हमारे देश में अज्ञानता का सम्राज्य तो है ही। धनी लोग प्रायः लाड़-प्यार के मारे तथा धन के मद में आकर अपने पुत्रों को ब्रह्मचर्य तथा विद्या से विहीन रखते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि उनके बालक बाल्यावस्था से ही कुसङ्ग में पड़ कर विचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। वे ही कुछ दिनों में युवक हो कर, वेश्यालय में जाने लग जाते हैं। वहाँ वेश्यायें भी इनको अपने माया-जाल में फँसाने के लिये सदा तत्पर रहती हैं। जो युवक एक बार भी इनके संसग में पड़ा, वह जीवन पर्यन्त छूट नहीं सकता। इनके समागम से गर्मी, सुजाक, पथरी, राजयक्ष्मा और प्राण-नाशक भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके संसर्ग से घर की स्त्री को भी इनके रोग लग जाते हैं। यदि सन्तान हुई, तो वह भी अत्यन्त विकारों युक्त होकर इनके कुकर्मों का फल भोगती है। इन वेश्याओं के कारण अनेक वंश नष्ट हो गये।

वेश्याओं के प्रचार का एक कारण उनका नृत्य भी है। हमारे बहुत से अज्ञानी भाई इनके नृत्य के बिना विवाह या किसी प्रकार के उत्सव को अधूरा ही समझते हैं। इनके हावभाव तथा कटाक्ष पर कितने ही अच्छे पुरुष मोहित होकर भ्रष्ट होते हैं। इनके

सुसज्जीकरण पर मुग्ध होकर बहुत सी स्त्रियाँ भी दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं।

अब हम वेश्याओं से होने वाली कुछ हानियों को नीचे देते हैं—

(१) वेश्या-गमन से पुरुष महा पातकी हो जाता है।

(२) वेश्यागामी का अन्तःकरण इतना मलिन हो जाता है कि वह अपने कुटुम्ब की स्त्रियों पर भी कुदृष्टि डाल देता है।

(३) वेश्यागमन से निश्चय ही भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(४) वेश्यागामी पुरुष कभी-कभी नर-हत्या या आत्म-हत्या भी कर बैठता है।

(५) वेश्यागामी का कुल कभी उन्नत नहीं हो सकता। उसकी सम्पत्ति, कीर्त्ति और धर्म का नाश हो जाता है।

---

(४) पर-स्त्री-गमन

नहीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह, परदारोप सेवनम्॥

(मनुस्मृति)

इस संसार में पुरुष का आयुर्बल क्षीण करने वाला ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जैसा कि पराई स्त्री के साथ रमण करना है।

हमारे समाज में कुछ ऐसे भी पुरुष हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से वेश्याओं की तो निन्दा करते हैं, पर उनके विचार में पर-स्त्री-गमन बुरा नहीं है। कारण इसका यह बताते हैं कि वेश्याओं से रोग की उत्पत्ति होती है, पर गृहस्थ स्त्रियों से ऐसी सम्भावना नहीं।

हमारे मत से वेश्या-गमन पर-स्त्री-गमन में विशेष अन्तर नहीं। जो अपनी स्त्री से भिन्न है, वही पर-स्त्री कही जाती है। ऊपर की महामति मनु की सम्मति से विदित होता है कि पर-स्त्री-गमन बहुत ही बुरा है। वास्तव में ऐसा ही है। पर-स्त्री-गामी पुरुष निर्बल, निस्सन्तान, दुष्ट, गुप्त पापी, हठी, क्रूर, अल्पायु और महानिन्दित हो जाता है। पर स्त्री के प्रेम में रत रहने वाला अपनी पत्नी को कभी तुष्ट नहीं कर सकता। जो पति अपनी विवाहिता स्त्री पर समुचित प्रेम नहीं रखता, उसकी स्त्री भी पर-पुरुष से मिल जाती है। इस प्रकार स्त्रियों का पातिव्रत धर्म नष्ट हो जाता है। और पुरुष भी अपने परमोत्तम एक पत्नी-व्रत का नाश कर देता है। पर-स्त्री-गामी पुरुष अन्त में वेश्यागामी भी हो जाता है। पुरुष हो या स्त्री, जिसका सदाचार छूट जाता है, उसका मन फिर सधना कठिन होता है। अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि ऊपर कहे गये दोनों दोषों से भी हमारी जाति का वीर्य, तेज, धर्म तथा धन नष्ट हो रहा है।

अब हम पर-स्त्री-गमन से होने वाली कुछ हानियों का वर्णन करते हैं:—

(१) पर-स्त्री-गामी की स्त्री कर्कशा और दुष्टा हो जाती है।

(२) पर-स्त्री-गामी के घर में कभी शान्ति नहीं रहती।

(३) उसका रहस्य खुलने पर संसार में घोर निन्दा होती है।

(४) उन्नत पुरुष भी पर-स्त्री के प्रेम से दिन पर दिन अवनत हो जाता है।

(५) उसके चरित्र पर कभी अपनी या पर-स्त्री भी विश्वास नहीं करती।

अतः समाज सुधारकों से हमारी यही विनय है कि यदि आप कुछ वास्तविक सुधार करना चाहते हैं, तो जाति के नवयुवकों को वेश्यागमन तथा पर-स्त्री-गमन जैसे वीर्य-नाशक कारणों के रोकने का यथाशक्ति प्रयत्न करें।

---

(५) अति मैथुन

अति स्त्रीसम्प्रयोगाच्च, रक्षेदात्मानमात्मवान्।
क्रीड़ायामपि मेधावी, हितार्थी परिवर्जयेत्।
(वैद्यक)

सावधान मनुष्य को उचित है कि अत्यन्त स्त्री-प्रसङ्ग से अपने को बचाये रहे। अपना भला चाहने वाला बुद्धिमान पुरुष क्रीड़ा (स्त्री-विहार) में भी अति प्रसंग (अत्यन्त वीर्य-पात) को त्याग दे।

बहुत से लोग ऐसे हैं, जो वेश्य-गमन और पर-स्त्री-गमन को बुरा समझते हैं, पर अपनी स्त्री के साथ अति मैथुन को बुरा नहीं समझते। उनकी धारणा है कि अपनी स्त्री के साथ विशेष रमण करना पाप नहीं। वह तो इसी लिये है ही। ऐसे विचार वालों से हमारा नम्र निवेदन है कि अति मैथुन सर्वथा निन्दित है। वह भी एक प्रकार का व्यभिचार है। असमय में वीर्य-पात से कुछ लाभ नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्म-हत्या का पाप लगता है। वीर्य से ही बालक की उत्पत्ति होती है। हम पहले कह भी चुके हैं कि वीर्य में असंख्य कीट रहते हैं। अति मैथुन से उन सबों का वृथा नाश होता है। इसी कारण से वैद्यक-शास्त्र में अति मैथुन

का निषेध किया गया है। अब हम अति मैथुन से होने वाले कई रोगों का वर्णन करते हैं:—

> शूल कास ज्वर श्वास, कार्श्य पाण्ड्वामयक्षयाः।
> अति व्यवायाज्जायन्ते, रोगाश्चाक्षेपकादयः ॥

अति मैथुन (स्त्री-प्रसङ्ग) से शूल, खाँसी, ज्वर, श्वास, दुर्बलता, पीलिया रोग, क्षय तथा आक्षेप आदि (वातव्याधि) रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) अनैसर्गिक मैथुन

स्त्री-प्रसङ्ग सृष्टि-विज्ञान के अनुकूल माना गया है। प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध अन्य उपायों द्वारा वीर्य-पात करने का नाम "अनैसर्गिक मैथुन" है। अज्ञान के कारण आजकल हमारे देश में कई प्रकार के कुमैथुनों का प्रचार हो गया है। इनमें पड़ कर जन-समूह का बड़ा भारी अहित हो रहा है।

कई अनैसर्गिक मैथुनों में से हम दो के नाम यहाँ देते हैं। एक का नाम गुदामैथुन और दूसरे का नाम हस्तमैथुन है। हमारी आर्य-जाति में ये दोनों पहले नहीं थे। यदि प्राचीन काल में ये रहे होते, तो कुछ न कुछ उल्लेख तो अवश्य मिलता। पर ऐसा कहीं भी नहीं देखने में आया।

एक ऐतिहासिक का कहना है कि इन दोनों मैथुनों के जन्म-दाता पाश्चात्य देश हैं। पहले पहल विदेशों में ही इनका प्रचार हुआ। फिर क्रमशः जो जो जातियाँ समय-समय पर भारत में घुसींउन्हीं के साथ इनका यहाँ भी प्रचार हो गया।

"गुदामैथुन" बालकों के साथ दुर्व्यवहार करने को कहते हैं। यह दूषण विद्यार्थियों और अविवाहित पुरुषों में बहुत फैल रहा है। इसके कारण पुरुष बल-रहित हो जाता है। सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति मारी जाती है। इन्द्रिय में उत्तेजना नहीं रहती। गुदा-मैथुनी पुरुष को स्वप्न-दोष, प्रमेह, शूल, संग्रहणी, कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि, उर:क्षत और उपदंश जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वह पुरुष थोड़े ही दिन में नाना प्रकार के रोगों का कोष बन कर अपनी जीवनलीला समाप्त कर देता है।

डाक्टर हिल साहब कहते हैं:—"हस्तमैथुन वह ज़बरदस्त कुल्हाड़ा है जिसे अज्ञानी युवक अपने ही हाथों अपने पैरों में मारता है और चेत तब होता है, जब कि हृदय, मस्तिष्क, आमाशय और मूत्राशय निर्बल होकर, स्वप्नदोष, शीघ्रपतन, प्रमेह आदि दुष्ट रोग आ घेरते हैं और जननेन्द्रिय छोटी टेढ़ी और निर्बल होकर गृहस्थ धर्म के सर्वथा अयोग्य हो जाती है।"

"हस्त-मैथुन" उस कुकर्म का नाम है, जो हाथ के द्वारा वीर्य-स्खलन का कारण होता है। इस दुर्व्यसन का प्रचार नवयुवक विद्यार्थी तथा अविवाहित पुरुषों में विशेषतर हो रहा है। इस कुकृत्य के कारण बहुत से लोगों का सर्वनाश तक हो जाता है। जो इसमें पड़ जाता है, वह मर कर ही इससे छूटता है। हमने कई सद्वैद्यों के सूचीपत्रों में इस बुरी क्रिया के करनेवालों के पत्र पढ़े हैं। प्रत्येक पत्र के पढ़ने से घृणा, दु:ख तथा परम शोक हुआ। ऐसे पुरुष वैद्यों की शरण में जाते रहते हैं, पर कुछ भी लाभ नहीं होता। इससे निम्नलिखित रोग उत्पन्न होते हैं:—

मूत्राशय निर्बल हो जाता है—धातु में क्षीणता आ जाती

है—दृष्टि की कमी, क्षुधा, तृषा, मन्दाग्नि स्वप्नदोष, मृगी, उन्माद, बुद्धि-भ्रंश, क्षय, उरक्षत, कोष्ट-बद्धता, शिरः पीड़ा तथा मधु मेह जैसे रोग उत्पन्न होते हैं।

अज्ञानता तथा कुसङ्ग के कारण बालक इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रारम्भ में तो इससे उन्हें सुख प्रतीत होता है, पर कुछ दिनों में इसके कारण होने वाली हानियाँ भी सूचित हो जाती हैं। यदि उसी समय यह अवगुण छूटा, तब तो कुछ सुधार भी हो जाता है। इससे जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे स्थायी होते हैं।

अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि ऊपर कही गयी दो अनैसर्गिक क्रियायें, वीर्य-नाश के लिये पूरी राक्षसी सिद्ध हो चुकी हैं। अतएव हम शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा बालकों के संरक्षकों से नम्र निवेदन करते हैं कि वे पूर्ण रूप से इन दुर्व्यवहारों से होने वाली हानियों का वर्णन कर बालकों को जीवन-दान दें!

---

(७)—तामस तथा राजस भोजन

"कुभोजनं दुःखकरं न योग्यम्।"

(सूक्ति)

बुरे भोजन से दुःख प्राप्त होता है, इसलिये अयोग्य है।

सात्विक भोजन के विपरीत आहार का नाम तामस भोजन है। तामसी भोजन से मनुष्य में तमोगुण की वृद्धि होती है। इसीलिये शास्त्रों में इसका निषेध किया गया है।

यह बात सभी लोग जानते हैं कि जैसा आहार किया जाता

है, वैसी बुद्धि भी उत्पन्न होती है। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं रहती, उसका मन बलात्कार बुरे कर्मों में लग जाता है। तामसी आहार करने वाले पुरुषों से वीर्य-रक्षा नहीं हो सकती। इसलिये ऐसे आहार से दूर रहना ही अच्छा है।

यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितञ्चयत्।
उच्छिष्ट मपिचामेध्यं,भोजनंतामसप्रियम्॥

देर का बना हुआ, रस विहीन पदार्थ, दुर्गन्धि युक्त, लशुन, प्याज, मछली तथा मांस आदि बासी और जूठा (अपवित्र) आहार तामस कहलाता है।

हमारे विचार से तामस के अतिरिक्त राजस आहार भी हमारे वीर्य-नाश का कारण बन रहा है। इस आहार के प्रेमियों के लिये वीर्य-संरक्षण बड़ा ही कठिन होता है।

अब हम राजस आहार का भी नीचे वर्णन कर देते हैं:—

कट्वम्ललवणात्युष्ण, तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहाराराजसस्येष्टा, दुःख शोकामयप्रदाः॥

(गीतोपनिषत्)

अति कटु (बहुत मिर्च वाला पदार्थ) अति खट्टा, अत्यन्त नमकीन, अति तीक्ष्ण, बहुत गरमागरम, पदार्थ राई आदि मिश्रित बहुत रूखा और अत्यन्त दाह करने वाला आहार—राजस कहलाता है। इससे दुःख, शोक तथा रोग बढ़ता है।

जिह्वा की लोलुपता के कारण लोग तामस और राजस आहार से प्रेम करते हैं, पर यह नहीं जानते कि इससे आन्तरिक हानि होती है। अतएव वीर्य-रक्षकों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे इन दोनों प्रकार के आहार पर संयम प्राप्त करें।

(८)—मादक द्रव्य-सेवन

"बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं, मदकारी तदुच्यते।"

(वैद्यक)

जिस वस्तु से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो, उसे मदकारी या मादक कहते हैं।

"मधु मांसञ्च वर्जयेत्।"

(मनुस्मृति)

मदिरा और मांस का सेवन करना वर्जित है।

भारतवर्ष में मादक द्रव्यों का प्रचार दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है। इससे हिन्दू—समाज की जो हानि हो रही है, वह कहने में नहीं आ सकती।

धर्म-शास्त्र के अनुसार मदिरा और मांस तामसी पुरुषों और राक्षसों का आहार है। पौराणिक काल में भी असुरों के अतिरिक्त कोई भी मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करता था। पर काल के प्रभावसे अब बहुत ही कम लोग ऐसे हैं, जो एक न एक प्रकार के मादक द्रव्य का सेवन न करते हों।

मादक द्रव्य भी हमारे वीर्य के नाश करने में अग्रसर हो रहे हैं। बहुत से लोग मानसिक दुर्बलता के कारण मादक द्रव्य का एक बार सेवन कर, फिर जन्म भर उससे नहीं छूट सकते। देश के कुछ सत्पुरुषों ने मादक द्रव्य के बहिष्कार करने के लिये बहुत प्रयत्न किया, पर दुर्भाग्य-वश पूरी सफलता नहीं मिली। देखें, इन मादक द्रव्यों से कब समाज का पिण्ड छूटता है।

अब हम मादक द्रव्यों से होने वाली कतिपय हानियों का वर्णन करते हैं:—

मादक द्रव्य के सेवन से बुद्धि नष्ट हो जाती है, हृदय दुर्बल और निस्तेज हो जाता है, शरीर जर्जरित होने लगता है और कुकर्म में मन लगता है। आलस्य, अनुत्साह और क्रोध की वृद्धि होती है। वीर्य-नाश के लिये उत्तेजना मिलती है। मादक द्रव्य का प्रेमी पुरुष ऋणी, दरिद्र, दोषी, चोर तथा जुआरी हो जाता है। मादक द्रव्य से सब गुण नष्ट हो जाते हैं। आयु-र्बल घट जाता है। इसके सेवन से समाज सदैव दास बना रहता है।

(९) कुशिक्षा और कुसंग

"सङ्गात्संजायते कामः।"

(गीता)

विकारों के उत्पन्न होने वाले विषयों के सहवास से काम की उत्पत्ति होती है।

"कामिनां कामिनीनाञ्च, सङ्गात्कामी भवेत्पुमान्।"

(सुक्ति)

कामी पुरुष या भोगवती स्त्री के साथ रहने वाला भी कामी बन जाता है।

ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले कारणों में कुशिक्षा और कुसङ्ग भी है।

आजकल की शिक्षा ऐसी अच्छी नहीं है जो कि बालकों को विलासिता से दूर रख सके। सौ में पचासी बालक निर्बल, दृष्टि-हीन, धर्म-भ्रष्ट, अविचारी, गुप्त पापी और प्रमादी हो जाते हैं।

देश में अच्छे पुरुषों का भा अभाव है। बुरे लोगों के सङ्ग में पड़ कर बालक अपने को नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। उनके माता-पिता और गुरु भी उनकी कुसङ्ग से रक्षा नहीं कर सकते। इस लिये सुबोध लोगों का कर्त्तव्य है कि वे बालक बालिकाओं की कुशिक्षा और कुसङ्ग से पूर्ण रूप से रक्षा करें।

५—भोग की तृष्णा

"भोगे रोग-भयम्।"

भोग में रोग होने का भय रहता है।

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।"

(भर्तृहरि-शतक)

हम भोगों को नहीं भोग सके, प्रत्युत भोगों ने हमें ही नष्ट कर डाला।

इस संसार में मनुष्य बड़ा विचित्र जीव है। वह ज्ञानवान् होने पर भी अपनी अज्ञानतावश भोगों में अनुरक्त रहता है। वह समझता है कि इसमें सुख है। अपनी तृष्णा को पूरी करने के लिये सदैव लालायित रहता है। वह चाहता है कि इस भोग्य वस्तु को अधिकता से भोगने से मनोवृत्ति की शान्ति होगी, पर इसका विपरीत ही परिणाम होता है। अङ्गों के शिथिल हो जाने पर भी तृष्णा की शान्ति कदापि नहीं होती।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्।
दन्तविहीनं जातं तुण्डम्॥

कर धृत कम्पित शोभित दण्डम्।
तदपि न मुञ्चत्याशा भण्डम् ॥

(शङ्कराचार्य)

अङ्ग शिथिल पड़ जाते हैं, सिर हिलने लगता है, मुख में दाँत नहीं रह जाते और हाथ में लाठी लेकर काँपते हुये चलते हैं। फिर भी पुरुष की एक न एक प्रकार की आशा बनी ही रह जाती है।

इससे यह बात विदित होती है कि वृद्धता में भी तृष्णा का नाश नहीं होता। अतएव जो पुरुष भोग के भोगने की चेष्टा करता है, वह वास्तव में मूढ़ता करता है। भोगों के भोगने से आज तक किसी की न इच्छा पूरी हुई, और न हो सकती है। मनुष्य की इच्छायें इतनी बलवती हैं कि वे कभी तुष्ट नहीं होती हैं, वरन् दिन पर दिन बढ़ती जाती हैं।

प्राचीन समय में ययाति नाम के एक राजा थे। वे किसी शापवश युवावस्था में ही वृद्धता को प्राप्त हो गये थे। पर उनकी भोगेच्छा नहीं गई। तब उन्होंने अपने सब लड़कों को बुलाकर पूछा कि हमें कौन अपनी जवानी देगा ?

इस पर सब से छोटे लड़के के अतिरिक्त सभी ने अपने पिता की याचना को अस्वीकार कर दिया। इसलिये ययाति ने उसी को अपनी वृद्धता देकर तरुणता ली और बहुत दिनों तक भोग में लगे रहे। अन्त में उन्होंने इस प्रकार अपने मन के उद्गार प्रकट किये :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥

काम-वासनाओं की शान्ति उनके भोगने से कदापि नहीं होती, बल्कि उनकी वृद्धि होती जाती है। अग्नि में हव्य पदार्थ के डालते रहने से उसकी ज्वाला बढ़ती ही जाती है। वह कभी घट नहीं सकती।

यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥

संसार में जितने अन्न, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, एक पुरुष के भोगने के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिये तृष्णा को छोड़ देना चाहिये।

या दुःस्त्यजा दुर्मतिभिर्नजीर्यति सुजीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिकारोगास्तां तृष्णांत्यजतः सुखी ॥

जो मूर्ख पुरुषों से छोड़ी नहीं जा सकती, जो जीर्ण हो जाने पर भी जीर्ण नहीं होती और जो प्राणों का नाश करने वाली व्याधि है— उस तृष्णा को छोड़ने से ही मनुष्य सुखी हो सकता है।

यह कह कर उन्होंने अपने पुत्र से पुनः वृद्धता ले ली और बहुत प्रकार से आशीर्वाद दे कर उसे विदा किया।

अब पाठकों को यह इस आख्यायिका से शिक्षा लेनी चाहिये कि विषय-भोग में सुख नहीं। इसमें पड़ना मूर्खता है। इससे जो लोग पद्मपत्र की भाँति जल से न्यारे रहते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं। वास्तवमें ब्रह्मचर्य ही सुख-शान्ति का देने वाला है, जिसके मनमें इसके प्रति आदर है, वह भोग रूपी रोगोंमें पड़कर अपना जीवन नष्ट नहीं कर सकता।

६—दुराचार की निन्दा

बद्धोहिको यो विषयानुरागी ।
कावा विमुक्ति विषये विरक्तिः ॥

(प्रश्नोत्तरी)

कौन बँधा हुआ है ? वह, जो विषयों में लिप्त है । और कौन छूटा हुआ है ? वह जो विषयों से अलिप्त है ।

मनुष्य ज्ञान-प्रधान प्राणी है । उसे कर्मों की नीचता और उच्चता का स्वयं ज्ञान होता है । पर वह अपनी तामसी वृत्ति के कारण ऊपर चढ़ने की अपेक्षा, नीचे जाने में विशेष रुचि रखता है । इसी से वह पतन के गर्त में गिरता ही जाता है । यदि वह इस दुर्गुण को दबादे, तो वह पापों से मुक्त हो सकता है । वह यह जानता है कि पाप का फल विष के समान होता है, जो दुष्कर्मी को अवश्य मिलता है. पर अज्ञानता और प्रमाद-वश उसी ओर बढ़ता है । सत्य कहा गया है:—

"पीत्वा मोहमयी प्रमादमदिरा, मुन्मत्त भूतं जगत् ।"

संसार मोहमयी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो रहा है ।

उन्मत्तता की दशा में मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । उसे बुरे-भले का ज्ञान नहीं रह जाता । इसी से वह असावधानी करता है, और उससे होने वाले कटु फल को चखता है । पर जब उसे स्वयं ज्ञान होता है, तब उसे अपनी करनी पर पश्चा-ताप होता है । वह अपने मन में इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं भूल कर के भी ऐसे दुष्कर्म में न फसूंगा । यदि इसी भाँति दृढ़ता रही. तो वह सुधर भी जाता है, पर बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो अपने को इस दुराचार के हाथसे बाहरकर सकते हैं ।

दुराचार से बढ़ कर मनुष्य का संसार में दूसरा अहित नहीं! जो इसका अनुयायी हुआ, उसको अपने जीवन से हाथ धोना पड़ता है। यह उस राक्षस के समान है, जो जीते जी शरीर के सब रक्त को पी जाता है। यह मनुष्य के भीतर है, पर इसको न दबाते रहने से यह मनुष्य का सर्वनाश कर के ही रहता है। दुराचार आदि में प्रिय और अन्त में अप्रिय होता है। इसीलिये मनुष्य भ्रमवश उसके लोभ में पड़ जाता है।

देखिये, इस विषय में धर्माचार्य मनु क्या कहते हैं:—

> दुराचारोहि पुरुषो, लोके भवति निन्दितः।
> दुःख-भागी च सततं, व्याधितोल्पायुरेवच॥

दुराचारी मनुष्य संसार में निन्दा का पात्र, सदा दुखी, रोग-ग्रस्त और अल्पायु होता है।

वास्तव में पाप धीरे-धीरे बढ़ कर दुराचारी को मूल से नष्ट कर देता है। द्वापर में यदु-वंशियों की सत्ता बहुत बढ़ गई थी। श्री कृष्ण के कारण वे दिन पर दिन उन्नत होते गये, पर जब उनकी शिक्षाओं का लोप होने लगा, वे लोग दुराचारी हो गये। कहा जाता है कि उनकी संख्या ५६ कोटि थी। उनमें मदिरा, मांस और मैथुन के दुर्व्यसन घुस गये। फिर ऐसा विग्रह हुआ कि वे आपस में लड़ कर मर मिटे।

दुराचारी पुरुष स्वयं अपने कुकर्म का फल भोगता है। प्रायः सभी सद्ग्रन्थों में दुराचार की निन्दा की गई है, और इससे पृथक् रहने का आदेश किया गया है। अतएव जो लोग आत्म-कल्याण चाहते हैं, वे प्रयत्न-पूर्वक दुराचार से पृथक् रहें।

यदि हृदय में ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा है, तो दुराचार से बँचना कोई कठिन काम नहीं ।

७—काम-शमन के उपदेश

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति कोऽवा ।
मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु ॥

(शंकराचार्य)

शूरों में भी महाशूर कौन है ? वह पुरुष जो कामदेव के बाणों से व्यथित न हुआ हो ।

वास्तव में कामदेव का तीक्ष्ण बाण सहना कठिन काम है । जो उसके बाणों को खा कर स्थिर चित्त रह जाय, उसे ही महा-शूर कहना चाहिये । महाराज भर्तृहरि कहते हैं:—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः ।
केचित् प्रमत्त मृगराज-वधेऽपिदक्षाः ॥
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य ।
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः ॥

मतवाले हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने वाले शूर तो संसार में बहुत से हैं—कोई-कोई ऐसे भी हैं, जो क्रोधित सिंह को भी मारने में निपुण हैं, किन्तु मैं बड़े-बड़े बली लोगों के सामने ललकार कर कहता हूँ कि कामदेव के दर्प को चूर्ण करने वाले बिरले ही पुरुष होते हैं !

यह बात बहुत ही सत्य है । विकारों के नाश करने वाले पुरुषों की संख्या संसार में बहुत कम होती है । पर ऐसी बात

नहीं कि है ही नहीं। हमारे विचार से काम-वासनाओं का नाश करना कोई असम्भव बात नहीं। आज तक अनेक ऐसे प्रातःस्मरणीय पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने काम-विकारों को अपनी इच्छा के अनुकूल करके उससे लाभ उठाया है।

यह संसार बड़ा विचित्र है। यहाँ कोई वस्तु निर्गुण या निर्दोष नहीं है। विद्वान् पुरुष विष से भी अमृत का काम ले सकता है तथा मूर्ख अमृत को भी दूषित विष कर सकता है। कोई पातक ऐसा नहीं, जिसका प्रायश्चित्त न हो, कोई दोष ऐसा नहीं, जिसकी शान्ति न हो—कोई रोग ऐसा नहीं, जिसकी चिकित्सा न हो, और कोई विकार ऐसा नहीं, जिसको दूर करने का उपाय न हो!

काम-विकारों के उत्पन्न होने का स्थान हृदय और मस्तिष्क है। यहीं से ये मनन-चिन्तन द्वारा उद्भूत होकर सर्वाङ्ग में उत्तेजना प्रकट करते हैं। जब सारे शरीर में गुप्त रूप से इनका प्रभाव हो जाता है, तब भला लिङ्गेन्द्रिय कैसे बँच सकती है? और इसमें विकार होते ही मैथुन के लिये लोग बाध्य होते हैं। काम-विकारों के उठते समय लोग इन पर ध्यान नहीं देते। अन्त में इनका प्रभुत्व बढ़ता ही जाता है, जो किसी न किसी रूप में वीर्य-नाश का प्रधान कारण होता है। हमारा विचार है कि जैसे ही मनोवृत्तियों में विकार उत्पन्न होने लगे, वैसे ही इसका रोकना श्रेयस्कर है, अतएव हृदय तथा मस्तिष्क को संयमित करने के उपायों से ही इनको अपने दुष्कर्मों से रोका जा सकता है।

अब हम काम-विकारों को रोकने के कुछ अत्यन्त उपयोगी और अनुभूत नियमों का वर्णन करते हैं। जिस समय मन में विकार उठने लगें, निम्नलिखित क्रियायें अत्यन्त उपयोगी हैं:—

१—शीतल जल से शिर को तब तक धोते रहना, जब तक चित्त स्थिर न हो जाय।

२—इच्छा से अधिक ठंडा जल पी लेना चाहिये।

३—किसी खट्टे फल को अनिच्छा होते हुये भी खा लेना हितकर है।

४—नदी समीप हो, तो उसमें शरीर मल-मल कर खूब स्नान कर लेना।

५—आधा या पाव कोस तक दौड़ आना या दानों कानों को खूब मलना।

६—१५, २० मिनट तक शीघ्रता से श्वास-प्रश्वास लेना।

७—श्मशान-भूमि को देखना या वहाँ की गति का स्मरण करना।

८—आश्चर्यजनक या कौतूहल-वर्धक ग्रन्थ पढ़ने लगना।

९—संसार की असारता और अपने नश्वर शरीर से घृणा करना।

१०—परमेश्वर के ध्यान और स्मरण में लग जाना।

ऊपर लिखे किसी भी उपाय का यथा विधि अवलम्बन करने से काम-विकारों का निश्चयपूर्वक नाश हो सकता है—ये कई सज्जनों के अनुभूत उपाय हैं।

८—स्वास्थ्य की शिक्षायें

प्रसिद्ध डा० डिकोरनेट ने स्वस्थ रहने के सर्वोच्च १० उपाय बतलाये हैं। अमेरिका की कई सभाओं में उक्त डाक्टर

महोदय को पुरस्कार भी इसके कारण मिल चुके हैं। हम उन्हें यहाँ देते हैं:—

(१) वायु-सेवन—बहुत सवेरे उठकर, टहलने को जाना और सब दिन परिश्रम करना।

(२) श्वास-प्रश्वास—पानी और रोटी से जीवनी शक्ति बढ़ती है। नीरोगता के लिये शुद्ध वायु और सूर्य-किरणों की बड़ी आवश्यकता है।

(३) आचार-उदर—दीर्घ जीवन के लिये परिमित आचार और थोड़ा आहार ही सबसे उत्तम है।

(४) शारीरिक स्वच्छता—जैसे स्वच्छ किया हुआ यन्त्र अधिक दिनों तक चलता है, वैसे ही शरीर भी स्वच्छता से नीरोग रहता है।

(५) उचित निद्रा—निद्रा शरीर को फिर से शक्ति प्रदान कर देती है। बहुत पड़े रहने से दुर्बलता आती है।

(६) वस्त्र-व्यवहार शीत और गर्मी से शरीर की रक्षा के लिये ऐसे कपड़े हों, जिनसे चलने-फिरने में रुकावट न हो।

(७) रहने का घर—बहुत स्वच्छ और खुला हुआ हो; वायु और प्रकाश के पहुँचने योग्य हो।

(८) नैतिक स्वास्थ्य—आमोद-प्रमोद से मन अवश्य प्रसन्न होता है, पर इसकी अधिकता से शरीर-शत्रु इंद्रियाँ उत्तेजित होकर, मनुष्य को पाप की ओर ले जाते हैं।

(९) मानसिक अवस्था—मन की प्रसन्नता स्वस्थता को बढ़ाती है किन्तु दुःख और विषाद से असमय में वृद्धता प्राप्त होती है।

(१०) परिश्रम—केवल मस्तिष्क-परिश्रम से ही काम नहीं चलता। शारीरिक श्रम करने से ही आहार मिलता और परिपाक होता है।

वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी ८६ वर्ष के होने पर भी हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न-मुख तथा स्वस्थ रहते थे। एक समाचार-पत्र के स्वामी के पूछने पर उन्होंने इसके जो कारण और स्वास्थ्य सम्बन्धी नौ नियम बतलाये, वे भी नीचे दिये जाते हैं:—

मैंने आजतक एक दिन भी मदिरा पान नहीं किया। मैंने मांस का स्पर्श तक नहीं किया है। मैंने कभी तम्बाखू नहीं पिया, नहीं खाया और नहीं सूँघा। मैंने कभी भी अधिक मिर्च का चटपटा भोजन नहीं किया है। मैं बासी भोजन से बँचता आया हूँ। मैं अब तक तमोगुण के पास नहीं गया अर्थात् क्रोध में भर कर गाली-गलौज या मार-पीट नहीं की। मैंने सदा परिश्रम के साथ अपने और दूसरों के बहुत से काम किये हैं। मैंने प्रत्येक काम नियम से किये हैं।

१—केवल स्थूल शरीर का नीरोग रहना ही सच्चा आरोग्य नहीं है। स्थूल और सूक्ष्म, दोनों शरीर विकार-रहित होने चाहियें।

२—शरीर, मन और आत्मा—इन तीनों की, जिसमें आगे की बराबर उन्नति होती चली जाय, ऐसा काम करना आरोग्य का सच्चा नियम है।

३—आरोग्य रहने के लिये केवल सुख से खा-पी लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु सद्‌गुणों में प्रवृत्ति रखनी चाहिये, जिससे की आयु बढ़े।

४—स्थूल और सूक्ष्म, इन दोनों शरीरों का परस्पर सम्बन्ध है। इन दोनों में एक के बिना दूसरा नहीं ठहर सकता। स्थूल

को स्थूल और सूक्ष्म का सूक्ष्म भोजन देना चाहिये। नियमित खाना-पीना स्थूल शरीर का, और सदाचार आदि सूक्ष्म का भोजन है।

५—ज्वर, खाँसी, क्षय आदि रोग स्थूल शरीर के, और काम, क्रोध, ईर्ष्या, आलस्य आदि सूक्ष्म शरीर के रोग हैं।

६—सात्विक भोजन स्थूल शरीर को नीरोग रखता है, और मन को सत्व गुणी बनाता है।

७—तामसी भोजन मन को तमोगुणी बनाता है।

८—परोपकार, दया, क्षमा, प्रेम, स्वार्थ-त्याग, स्वदेश और जाति-सेवा आदि उत्तम गुण मनुष्य को उन्नत बनाते, और शरीर को नीरोग रख कर आयु बढ़ाते हैं।

९—शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार का आरोग्य होने पर ही, आनन्द मिलता है; आयु बढ़ती है और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर एडवर्ड ड्यूई ने सदैव स्वस्थ रहने के लिये निम्नलिखित तीन नियम बतलाये हैं। इनका पालन करने वाला मनुष्य थोड़े ही दिनों में सत्यता की परीक्षा कर सकता है:—

(१) स्वच्छ वायु में टहलना और प्राणायाम साधना।

(२) स्वाभाविक भूख लगने पर ही उचित मात्रा में भोजन करना।

(३) प्रत्येक कवल को भली भाँति चबा-चबा कर खाना।

सप्तम खण्ड

१—ब्रह्म-वन्दना

ॐ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्य मसि वीर्यं मयि धेहि।
बल मसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि।
(यजु० अ० १९ म० ९)

हे प्रभो ! तुम तेज हो--हमें तेज प्रादान करो ! तुम वीर्य हो हमें वीर्य प्रदान करो ! तुम बल हो—हमें बल प्रदान करो ! तुम ओज हो—हमें ओज प्रदान करो ! तुम आनन्द हो—हमें आनन्द प्रदान करो और तुम पराक्रम हो, अतः हमें पराक्रम प्रदान करो।

तुम सब प्रकार की योग्यताओं के केन्द्र हो। तुममें संसार की समस्त शक्तियाँ भरी हुई हैं और तुम उनके अधीश्वर हो ! जिसके पास जो वस्तु होती है, वह उसी से माँगने पर प्राप्त होती है, अतएव हम तुमसे याचना करते हैं कि हमें तुम्हारे दिव्य गुण प्राप्त हों ! जिनसे हम अपने ब्रह्मचर्य का पालन कर जनता का हित करें। बिना तुम्हारी कृपा के यह महाव्रत फलित नहीं हो सकता। हमें पूर्ण आशा है कि स्वच्छ हृदय की प्रार्थना अवश्य स्वीकृत होगी।

२—वीर्य-रक्षा के सन्नियम

'वीर्यं रक्षति रक्षितम् ।'

(सूक्ति)

जो अपने वीर्य की रक्षा करता है, वह (वीर्य) भी उसका संरक्षण करता है।

'बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।'

(सूक्ति)

विषय में आसक्त मन बन्धन और विशुद्ध मन मोक्ष का कारण होता है।

ब्रह्मचर्य (वीर्य-संरक्षण) का विधिवत् पालन करना अत्यन्त कठिन काम है। साधारण से साधारण नियम का उल्लङ्घन करने से भी यह व्रत टूट जाता है। इसके पालन करने वालों में से बहुत ही थोड़े लोग सफल मनोरथ होते हैं। इसके निर्वाह करने में कभी कभी महात्माओं से भी असावधानी हो जाती है। इसी लिये हमारे यहाँ शास्त्रों में बहुत से स्वास्थ्य और इन्द्रिय-निग्रह सम्बन्धी नियम लिखे गये हैं। यदि उनको काम में लाया जाय, तो ब्रह्मचर्य के पालन करने में अच्छी सहायता मिल सकती है।

इस देश में दुर्भाग्य-वश ऐसी कुरीतियाँ फैल गई हैं कि उनके कारण सर्वत्र वीर्य का दुरुपयोग हो रहा है। इस ईश्वरीय अनुपम शक्ति से लोग अपने को शून्य बना रहे हैं। कुछ लोगों को भ्रम सा हो गया है कि वीर्य को रक्षित रखना असम्भव है! पर ऐसी बात नहीं! वीर्य का संरक्षण अवश्य किया जा सकता है, और यह प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य धर्म है। परमात्मा ने

सृष्टि करने और सुख-शान्ति से जीवन बिताने के लिये ही मनुष्य का शरीर दिया है। ऐसे बड़े अधिकार को जो खोता है, वह कदापि दीर्घजीवी होकर, इस संसार का आनन्द नहीं भोगता।

यह बात प्रायः देखी जाती है कि पशुओं में भी वीर्य-रक्षा का भाव होता है। पक्षियों को भी असमय में वीर्य-नाश करते हुये प्रायः नहीं देखा गया है। पशु-पक्षी सभी संयम से रह कर समय पर ही केवल सन्तान-वृद्धि के लिये अपने इस स्वाभाविक बल का उपयोग करते हैं। पर मनुष्य-जाति इनसे भी गिरी हुई है। उसमें भी सभ्य और सुशिक्षितों की दशा बहुत ही बुरी है। इनकी अपेक्षा ग्रामीण और वन-पर्वत के रहने वाले स्त्री-पुरुषों में भी वीर्य-रक्षा विशेष रूप से होती है। ये लोग भी काम-चेष्टा में पड़ कर अपने सर्वस्व(वीर्य) का अधिकता से क्षय नहीं करते।

ऊपर लिखी हुई बातों को ध्यान में रख कर अब हम कुछ ऐसे चुने हुए उच्च सदुपायों का वर्णन करते हैं, जिनके पालन करते रहने से बहुत अंशों में वीर्य-रक्षा आप ही आप हो सकती है। हमें पूर्ण विश्वास है कि जो स्त्री-पुरुष नियम करके इनको अपनावेंगे, वे अवश्य अपने ध्येय (ब्रह्मचर्य) को प्राप्त कर सकेंगे। ये नियम वैज्ञानिक रहस्य से भरे हुए हैं। इनमें स्वास्थ्य और संयम के सिद्धान्त हैं। यही कारण है कि हमारे आर्य ऋषियों ने जहाँ-तहाँ शास्त्रों में इन पर चलने के लिये उपदेश किया है। जो लोग वीर्य-रक्षा से हताश हो गये हैं, या ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हों, वे कुछ समय के लिये सत्यता की परीक्षा कर देखें। अन्त में हम उन्हें यह भी दृढ़ विश्वास दिलाते

हैं कि इन सदुपायों के करने में यदि उन्हें कुछ लाभ न हुआ, तो हानि तो किसी प्रकार की हो ही नहीं सकती। विशेष कहना व्यर्थ है !

(१) ब्राह्ममुहूर्त्त-जागरण

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत, धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्वार्थ मेव च ॥

(मनुस्मृति)

ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर धर्म और अर्थ का चिन्तन करना चाहिये। अपने शरीर के क्लेशों और उनके कारणों पर विचार करना चाहिये और वेदों के तत्त्वों का अध्ययन करना चाहिये।

रात के चौथे पहर का नाम ब्राह्ममुहूर्त है। बहुत प्राचीन समय से इस समय उठने का विधान है। क्योंकि इस समय त्रिविध वायु चलती है, प्रकृति सौम्यता और सुन्दरता से भर जाती है, तथा सर्वत्र शान्ति और प्रसन्नता के दृश्य दिखलाई पड़ते हैं। सूर्योदय से पहले उठ जाना स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही उपयोगी है। इस समय में उठने की आज्ञा धर्म-शास्त्र और आयुर्वेद-शास्त्र, दोनों के मत में हितकर माना गया है। इसे देव-बेला भी कहते हैं। दिन रात में यह समय बहुत ही उत्तम होता है। सत्कार्यों के करने के लिये ही ईश्वर ने यह समय बनाया है। इस समय में उठने वाला मनुष्य स्वस्थ्य और सदाचारी बन जाता है। जो लोग इस समय सोते रहते हैं, वे प्रायः अल्पायु, आलसी, दरिद्री, दुरात्मा हठी और विषयी होते हैं। इसलिये वीर्य-रक्षा के इच्छुकों को चाहिये कि सदा ब्राह्ममुहूर्त में उठने का उद्योग करें।

अब हम ब्राह्ममुहूर्त में उठने के कुछ लाभों को नीचे लिखते हैं:-

(१) ब्राह्ममुहूर्त में जागने से बुद्धि तीव्र होती है। (२) मनुष्य रोग रहित और स्वस्थ बनता है। तथा लक्ष्मीवान् और यशस्वी होता है। (३) मन की सद्वृत्तियाँ जागृत होती हैं।

(२) उषःपान

सवितुः समुदयकाले, प्रसृती सलिलस्य पिवेदष्टौ।
रोगजरा परिमुक्तो, जीवेद्वत्सर शतं साग्रम्॥
(आयुर्वेद)

जो मनुष्य सूर्य के उगने से कुछ पहले आठ अञ्जली जल पीता है, वह रोग और वृद्धता से रहित हो कर सौ वर्षों से भी अधिक जीता है।

वैद्यक के प्रायः सभी आचार्यों ने उषःपान करने का समय सूर्योदय से पहले (ब्राह्ममुहूर्त) माना है। इस समय का जल पीना बड़ा लाभदायक होता है। शरीर के सब रोग इससे दूर हो सकते हैं। हमें स्वयं भी इस बात का अनुभव है। अब तक हमने कई रोगियों को उषःपान की विधि से अच्छा किया है। ऊपर के श्लोक में आठ अञ्जली जल पीने को लिखा गया है। पर देश, काल तथा बल के अनुसार कम भी कर दिया जा सकता है।

अब हम उषःपान के गुणों को नीचे लिखते हैं:—

(१) उषःपान से वीर्यसम्बन्धी कई रोग दूर हो जाते हैं।

(२) काम-विकार को शान्ति मिलती है।

(३) और शरीर में उष्णता नहीं बढ़ती।

(४) मेधा और शक्ति की वृद्धि होती है।

(५) कोष्ट-बद्धता, अजीर्ण तथा स्वप्न-दोष आदि रोग नहीं होते।

(३) मल-मूत्र-विसर्जन

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं, दिवाकुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ, सन्ध्ययोश्च यथादिवा॥

(मनुस्मृति)

दिन में उत्तर मुख करके तथा रात में दक्षिण मुख करके मल-मूत्र-त्याग करना चाहिये !

वैद्यक-शास्त्र के मत से भी सूर्योदय से पहले मल-मूत्र का त्याग करना उपयोगी है। जहाँ तक हो खुले मैदान वा एकान्त स्थान में बस्ती से कुछ दूर मल-त्याग करना चाहिये; साथ ही दूसरे के किये हुए पर भी न करना चाहिए।

प्राचीन समय में लोग प्रायः बस्ती से दूर जंगलों में टट्टी जाया करते थे। इससे उन्हें शुद्ध वायु-सेवन का भी लाभ हो जाता था। साथ ही बस्ती में गंदगी भी नहीं फैलने पाती थी। पर खेद है कि इस नये फेशन के फेर में पड़ कर लोग प्राचीन और उपयोगी प्रणाली को भूलते जाते हैं।

मल-मूत्र की हाजत होने पर उसे न रोकना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

आलस्य-वश जो लोग इस आवश्यकता को रोकते हैं, वे अपने स्वास्थ्य को खो बैठते हैं। उनके मलाशय और मूत्राशय में विकार

उत्पन्न हो जाते हैं इस से वीर्य तथा अन्य धातुओं की हानि होती है।

'सर्वेषामेव रोगाणां, निदानं कुपिता मलाः।'

(वैद्यक)

मल के बिगड़ने से ही प्रायः अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। ठीक समय से साफ पाखाना हो जाने से दिन भर स्फूर्ति, उद्योग शीलता, प्रसन्नता, सुबुद्धि और सद्गुणों की वृद्धि होती है। प्रमाद, अग्नि मन्दता, पीड़ा तथा ज्वर आदि रोग नहीं सताते।

प्रातःकाल मल-मूत्र त्यागने वाले का वीर्य शुद्ध और विकार से रहित रहता है।

(४) उपस्थेन्द्रिय की स्वच्छता

'उपस्थेन्द्रियमेवास्ति, पाप-रोग-प्रदायकम्।'

(सूक्ति)

गुप्तेन्द्रियों की स्वच्छता से मन को शान्ति प्राप्त होती है, काम-विकारों की सम्भावना नहीं रहती तथा दाद, खुजली, दुर्गन्धि, क्रिमि और स्वप्नदोष आदि से रक्षा होती है। नेत्रों में ज्योति, मस्तिष्क में विचार की स्फूर्ति भी बढ़ती है।

वास्तव में मनुष्य के लिये गुप्त इन्द्रियों को स्वच्छ रखना भी बड़ा हित कर है। इनकी अपवित्रता से भी विकार उत्पन्न हो जाता है। कई प्रकार के इन्द्रिय सम्बन्धी गुप्त रोग भी उत्पन्न

अब हम शुभ सङ्कल्प से होने वाले कतिपय लाभों को नीचे लिखते हैं:—

(१) शुभ सङ्कल्प से कार्य के करने में असफलता का भय नहीं रहता। (२) मन को दृढ़ता प्राप्त होती है। (३) बाधाओं के सहने की शक्ति प्राप्त होती है। (४) कर्त्तव्य से विमुख होने की इच्छा नहीं होती। (५) स्वाधीन विचार जागृत हो जाते हैं।

---

(१६) इच्छा-शक्ति-प्रयोग

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे।
चित्तस्य माता सुबहा नो अस्तु॥

(अथर्ववेद)

हम इच्छा-शक्ति देवी की उपासना करते हैं। वह चित्त की माता है। अतः हमारे लिये सुखदायिनी बने !

"अकामस्य क्रिया काचिद्, दृश्यते नेह कर्हिचित्।"

(मनुस्मृति)

मनः कामना के बिना इस संसार में कोई कार्य नहीं हो सकता।

'या दृगिच्छेच्च भवितु, तादृग्भवति पूरुषः।'

(म० विदुर)

पुरुष जैसा होने की इच्छा करता है, वैसा बनता है।

इच्छा-शक्ति का नाम विद्वान् लोगों ने सुना ही होगा? मनुष्य के भीतर यह दैवी-विभूति छिपी हुई है। जो लोग इसके

में डाक्टर लोग अपने रोगियों को वायु-सेवन के लिये दूर दूर भी भेजते हैं।

अब हम वायु-सेवन से होने वाले कतिपय लाभों का नीचे वर्णन करते हैं :—

(१) प्रातःकाल वायु-सेवन करने से देह की धातु और उपधातुयें शुद्ध और पुष्ट होती हैं।

(२) मनोद्वेग, आलस्य, चिन्ता, दुर्बलता, भय और रोग आदि का नाश होता है।

(३) मनुष्य बुद्धिमान और बलवान होता है।

(४) नेत्र और श्रवण की शक्ति बढ़ती और स्थिर रहती है।

(५) काम-विकार और उपस्थेन्द्रिय को शान्ति मिलती है।

(६) नित्य स्नान

गुणाः सदास्नानपरस्य साधोः
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम् ॥
आयुष्यमारोग्यचलालुपत्वम् ।
दुःस्वप्ननाशञ्च यशश्च मेधाम् ॥
(योगी याज्ञवल्क्य)

हे सज्जनो ! सदैव स्नान करने वाले मनुष्य को रूप, तेज, बल, पवित्रता. आयुष्य, आरोग्य, अलोलुपता, बुरे स्वप्नों का न आना, यश और मेधा आदि गुण प्राप्त होते हैं।

'स्नानं यशश्चआयुष्यं, श्रमस्वेद-मलापहम् ।'
(चरक-संहिता)

स्नान करने से यसुख और आयुष्य की वृद्धि होती है। परिश्रम

करने से पसीना आता है और इसलिये शरीर का मल दूर होता है।

हिन्दू-धर्म में स्नान का बड़ा माहात्म्य है। यह विज्ञान से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। अन्तः शुद्धि के साथ साथ बाह्य शुद्धि की भी मनुष्य के लिये आवश्यकता होती है। जो लोग स्नान नहीं करते, वे प्रायः आलसी होते हैं और चर्म-रोगों में फँसे रहते हैं।

प्रातःकाल का स्नान बहुत ही उपयोगी होता है। सायङ्काल को भी स्नान किया जा सकता है। ग्रीष्म-ऋतु में दो बार स्नान करना आवश्यक है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को सदैव कम से कम एक बार तो अवश्य ही स्नान कर लेना चाहिये। स्नान के समय सारे शरीर को भलीभाँति मल-मल कर धोना चाहिये। स्नान के लिये स्वच्छ और ताजा जल बहुत ही उपयोगी माना गया है। शरद ऋतु में अधिक शीत पड़ने पर गरम जल से भी स्नान करना हानिकारक नहीं है। पर शिर को पहले पहल ठण्डे जल से ही धो लेना चाहिये। कूप जल सभी ऋतुओं में नहाने में लाभ-दायक होता है। थोड़े जल से नहाने में शरीर के छोटे छोटे छिद्रों का मल दूर नहीं होता, और भीतर का दोष बाहर नहीं निकलने पाता। इसलिये यदि नदी पास हो तो उसी के जल में नियमित रूप से स्नान करना चाहिये। नित्य स्नान से वीर्य तथा शरीर के अन्य धातुओं को शान्ति मिलती है।

(७) कौपीन-धारण

'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ।'

(शंकराचार्य)

कौपीन के (लङ्गोट के) धारण करने वाले वास्तव में भाग्यवान पुरुष ही होते हैं।

इस देश में कौपीनधारी प्रायः ब्रह्मचारी और संन्यासी होते हैं। ये इसलिये कौपीन पहनते हैं कि उपस्थेन्द्रियों में काम विकार से उत्तेजना न उत्पन्न होने पावे। इन्हें वीर्य-रक्षा की विशेष रूप से आवश्यकता रहती है। ब्रह्मचारी और संन्यासियों के लिये कौपीन धारण करने का शास्त्रीय नियम भी प्राचीन समय से चला आता है। इसके अतिरिक्त मल्ल-युद्ध (कुश्ती) करने वाले भी कौपीन (लङ्गोट) पहनते हैं। क्योंकि उन्हें भी वीर्य-रक्षा के लिये संयम रखना पड़ता है। विषय-लोलुपों को कौपीन धारण करना बहुत बुरा जान पड़ता है।

कौपीन का वस्त्र बहुत मोटा न होना चाहिये। दोहरा होने से इन्द्रिय पर विशेष गर्मी पहुँचने से भी वीर्य-पात हो सकता है। एक पतला और स्वच्छ वस्त्र कौपीन (लङ्गोट) के लिये बड़ा उपयोगी है।

कुछ लोगों की धारणा सी हो गई है कि धोती के नीचे कौपीन (लङ्गोट) धारण करने से मनुष्य नपुंसक हो जाता है। यह बात मिथ्या है। इससे तो बल्कि अधिक समय तक के लिये पुंसत्व रक्षित रहता है। कौपीन धारण करने से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) कौपीन पहनने से अण्डकोप नहीं बढ़ता।

(२) इन्द्रियों में प्रचुर शक्ति सञ्चित होती है

(३) मन पर अपना अधिकार हो जाता है।

(४) बल, उत्साह, स्फूर्ति, सदाचार, सत्प्रेम और सत्सङ्ग आदि की वृद्धि होती है।

---

(८) प्राणायाम-साधन

दह्यन्ते ध्मायमानानां, धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते, दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

(मनुस्मृति)

जैसे अग्नि में डालकर तपाने से धातुओं के मल जल जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम के करने से इन्द्रियों के सब दोष भस्म हो जाते हैं।

प्राणायाम की विचित्र शक्ति का बोध प्राणायाम करनेवाले लोगों को ही पूर्ण रूप से होता है, पर साधारण जनता भी इसके अमूल्य लाभों से अपरिचित नहीं है। यह प्राणायाम ब्रह्मचारी और योगियों के लिये विशेष रूप से प्रतिबन्धित है। गृहस्थाश्रम में रहने वालों के लिये भी प्राणायाम की आज्ञा है।* इसको उचित रीति से करते रहने से अनेक कष्ट-साध्य रोग दूर हो जाते हैं।

प्राणायाम सन्ध्योपासन का भी सब से प्रधान अङ्ग है। वीर्य-

---

* प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष बातें जानने के लिये लेखक का 'प्राणायाम-व्यायाम' नामक ग्रन्थ पढ़िये !

रक्षण के लिये प्राणायाम एक आवश्यक परमोत्तम साधन है। वीर्य जल की भाँति तरल होने के कारण उसका स्वाभाविक प्रवाह नीचे की ओर होता है। जैसे एक एक विन्दु जल के निकलते रहने से घड़ा खाली हो जाता है, उसी भाँति वीर्य के बाहर प्रवाहित होते रहने से शरीर भी शून्य और निर्जीव हो जाता है। अन्तमें शारीरिक और मानसिक योग्यताओं का ह्रास होने से मनुष्य शीघ्र ही काल के कराल गाल में चला जाता है। अतएव मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह अपने वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर अपने मस्तिष्क और सर्वाङ्ग को पुष्ट करने का सदैव अभ्यास करता रहे। इसके लिये प्राणायाम से बढ़ कर अन्य साधन नहीं है।

भिन्न भिन्न आचार्यों के मत से प्राणायाम के अनेक भेद होते हैं। पर ख़ास भेद तीन ही हैं, और दूसरे भेद सभी इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

प्राणायामास्त्रिधा प्रोक्ता, पूरकुम्भकरेचकैः।
सहितः कुम्भकश्चेति, कुम्भको द्विविधो मतः॥

प्राणायाम के तीन प्रकार होते हैं। पहला पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ, दूसरा कुम्भक के साथ और तीसरा कुम्भक हीन होता है। कुम्भक भी दो प्रकार का होता है। पहला पूरक और रेचक सहित तथा दूसरा केवल कुम्भक।

(१) पूरक—नाक के दाहिने छेद को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबा कर बायें से धीरे धीरे वायु पेट में भरना।

(२) कुम्भक—फिर बीच की दोनों अंगुलियों से नाक के बायें छेद को भी बन्द कर पेट में भरी हुई वायु को रोकना।

(३) रेचक—और फिर नाक के बायें छेद से धीरे धीरे वायु को बाहर निकाल देना चाहिये ।

ऊपर की क्रिया के कर लेने पर एक प्राणायाम होता है। इसी प्रकार नौ वार पूरक, कुम्भक और रेचक के करते रहने पर तीन प्राणायाम होते हैं। प्रत्येक मनुष्य को एक समय में कम से कम ३ प्राणायाम करना आवश्यक है ।

"प्राणायामान् षडाचरेत् ।"

भगवान् मनु का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को ६ प्राणायाम करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि ३ प्राणायाम प्रातःकाल और ३ ही सायङ्काल करना आवश्यक है ।

प्राणायाम करते समय नीचे लिखा हुआ मन्त्र प्रतिवार पढ़ते रहना चाहिये ।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं, ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

एक मत यह भी है कि बिना मन्त्र के भी प्राणायाम किया जा सकता है। पर ऐसी अवस्था में यह नियम है कि जितने समय में पूरक हो, उसके दूने समय में कुम्भक और तिगुने समय में रेचक करना चाहिये ।

दुर्गन्धित और संकुचित स्थान पर बैठ कर प्राणायाम करने से बड़ी हानि होने की सम्भावना है। इसलिये प्राणायाम के लिये स्वच्छ समतल और सुरम्य भूमि का होना बहुत आवश्यक है। शुद्ध वायु में सिद्धासन से (बिधि आगे लिखी गई है) बैठकर प्राणा-

याम करने से अनेक लाभ होते हैं। जिनका हम नीचे वर्णन करते हैं—

(१) प्राणायाम के अभ्यासी के हृदय में काम-विकार नहीं उठता।

(२) मन और इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है।

(३) बुद्धि तथा बल की वृद्धि होती है।

(४) वृद्धता, रोग तथा क्षीणता का भय नहीं रहता।

(५) वीर्य की अधोगति नहीं होती।

(६) शारीरिक और मानसिक विकास होता रहता है।

(७) मनुष्य को दैवीगुण प्राप्त होते हैं।

(८) अधर्म की ओर चित्त नहीं जाता।

(९) दीर्घायु और सुसन्तान प्राप्त होती है।

(१०) कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं।

---

(६) मानसिक योग

"समत्वं योग उच्यते।"

चित्त की समता का नाम योग है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा, धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
बिना योगेन देवोऽपि, न मोक्षं लभते प्रिये॥

(योग-बीज)

(भगवान शङ्कर पार्वतीजी से कहते हैं) हे पार्वती ! बड़ा ज्ञानवान्, वैरागी, धर्मिष्ठ और जितेन्द्रिय कोई मनुष्य क्यों न हो, पर बिना योग के मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता।

योग का महत्व बतलाने की आवश्यकता नहीं। साधारण से साधारण प्रकार की योग-क्रिया मनुष्य को असाधारण लाभ पहुँचाने में समर्थ है। इसलिये वीर्य्य-संरक्षण के लिये योग बहुत उत्तम साधन माना गया है। हमारे ऋषि लोग भी योग के द्वारा ही अपने ब्रह्मचर्य-व्रत का पूरा पालन करते थे।

हमारे प्रचीन आचार्यों ने योग के भी अनेक भेद निर्धारित किये हैं। पर उन सबों के वर्णन की यहाँ पर आवश्यकता नहीं। हम यहाँ पर मूल योग को ही लिखना चाहते हैं। उसका भगवान श्री कृष्ण ने निम्नलिखित आदेश किया है।

पवित्र स्थान पर, जो कि न तो बहुत ऊँचा हो और न नीचा हो, कुशासनी, मृगचर्म या वस्त्र बिछा कर बैठना चाहिये। उस समय अपने मन को एकाग्र कर चित्त और इन्द्रियों के कर्मों को वश में करके अपनी आत्म-शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे!

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

शरीर, (मध्यभाग) शिर और गर्दन को सीधे रखो। कोई अङ्ग इधर उधर डुलने न पावे। अर्थात् सब शरीर को स्थिर रखना चाहिये। किसी भी दिशा को न देखता हुआ अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर ठहराना चाहिये। शान्त चित्त, भयरहित और ब्रह्मचर्य-व्रत में स्थित हो, मन को संयम कर आत्मनिष्ठ पुरुष मुझ (परमात्मा) में लीन होवे।

ऊपर लिखी हुई मानसिक योग की क्रिया आँखें मूंद कर भी की जा सकती है। पर उस अवस्था में भी मानसिक दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर ही रहना चाहिये।

जैसे शरीर के लिये भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवात्मा के लिये मानसिक योग की आवश्यकता अनिवार्य है।

अब हम इस मानसिक योग से होने वाले कुछ लाभों का वर्णन यहाँ पर करते हैं:—

(१) योग के साधन से मनुष्य का वीर्य नष्ट नहीं होने पाता।

(२) मस्तिष्क और मन में ब्रह्मचर्य की रक्षण-शक्ति प्राप्त होती है।

(३) चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है।

(४) उत्तमोत्तम विचार और कार्य की इच्छा होती है।

(५) परमानन्द और शान्ति की उपलब्धि होती है।

(६) सदाचार में सहायता मिलती है।

(७) अधर्म और अनाचार में चित्त नहीं रमता।

(८) सदैव उत्साह, साहस, धैर्य, प्रेम और औदार्य की वृद्धि होती है।

(९) दीर्घ-जीवन और आरोग्य प्राप्त होता है।

(१०) अन्त में मोक्ष भी प्राप्त होता है॥

योग के सम्बन्ध में जिसे अधिक जानने की इच्छा हो, वह ग्रन्थकर्ता का 'योगाचार-दर्शन' देखे।

(१०) सन्ध्यावन्दन

"ऋषयो दीर्घ सन्ध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥"

(मनस्मृति)

ऋषि लोग देर तक सन्ध्यावन्दन करने के कारण दीर्घायु, सुबुद्धि, सुकीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त होते थे।

सन्ध्यावन्दन की प्रणाली इस देश में बहुत प्राचीन है। हमारी हिन्दू-जनता इसके नाम से भली भाँति परिचित है। यह मनुष्य-जाति के लिये एक बड़ा आवश्यक कर्त्तव्य है।

सन्ध्या का अर्थ है एकाग्र चित्त से ध्यान करना, परमेश्वर की उपासना करना, अपने दिन भर के किये कामों पर विचार कर बुरे कामों के लिये पश्चात्ताप करना, आगे के लिये बुरे काम न करने की प्रतिज्ञा करना, आगे का समय सद्व्यवहारों में व्यतीत हो इसकी परमात्मा से प्रार्थना करना आदि।

हमारी सन्ध्या में बहुत गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। इसीलिये आवश्यक से आवश्यक कार्य को लोग छोड़ कर इसे करते थे। महाभारत में भी पितामह भीष्म, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर आदि सन्ध्योपासन करते थे, और सन्ध्या होते ही युद्ध बन्द हो जाता था। इतने से ही सन्ध्या का महत्व जाना जा सकता है।

संध्या प्रातःकाल और सायंकल दो बार अवश्य करना चाहिए। संध्या करते समय गायत्री-मन्त्र का भी जप करने का विधान है। वह हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

ॐ भूर्भुवः स्वस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

हे सर्वव्यापक, अखिल-गुणसम्पन्न तथा ज्योतिर्मय परमात्मा हमारी (सर्वश्रेष्ठ वस्तु) बुद्धि को शुद्ध एवं सद्विचारवाली बनाओ ।

इस मंत्र को एक हज़ार बार, सौ बार या दस बार अवश्य जप लेना चाहिये ।

अब संध्योपासना के लाभों को नीचे लिखते हैं:—

(१) इससे मन पवित्र और संयमी बन जाता है ।

(२) भगवद्भक्ति में चित्त रमता है ।

(३) गुरुतर से गुरुतर भी पाप छूट जाते हैं ।

(४) विषय वासनायें तुच्छ ज्ञात होने लगती हैं ।

(५) शरीर बलवान्, तेजस्वी और दीर्घजीवी बनता है ।

---

(११) स्वल्पाहार

"अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं, तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।
(चा० नी०)

अति भोजन से अस्वस्थता बढ़ती है—आयुर्बल क्षीण होता है—अनेक रोग पैदा होते हैं— पाप कर्म होते हैं और लोगों में निंदा होती है । इसलिये अधिक भोजन करना वर्जित है ।

"स्वल्पाहारः सुखावहः ।"
(सूक्ति)

थोड़ा आहार करना सुख-दायक होता है।

जीवधारियों के लिये आहार बहुत आवश्यक पदार्थ होता है। पर विशेष होने से यही हानि पहुँचाता है। स्वल्पाहार करने वाले सदा सुखी रहते हैं। विशेष आहार करने वालों को प्रायः स्वप्नदोष से पीड़ित पाया गया है। कुछ लोगों की कुधारणा सी हो गई है कि जितना ही खाया जाय उतना ही अच्छा है। बड़े वैद्यों का कहना है कि थोड़ा ही आहार करना स्वास्थ्य के लियें उपयोगी होता है। प्रत्येक ग्रास (कवल) को दाँतों से खूब मसल कर खाना चाहिये। आहार उतना ही करना चाहिये जितना कि सुगमता से पच सके। विशेष आहार से अजीर्ण, ज्वर, संग्रहणी, कोष्ठबद्धता और धातु-दौर्वल्य आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। भोजन कर लेने पर पानी और हवा के लिये पेट में काफी स्थान छोड़ देना चाहिये।

अब हम स्वल्पाहार के गुणों को नीचे लिखते हैं:—

(१) शरीर स्वस्थ और नीरोग रहता है।

(२) मन में बल और स्फूर्ति का वास रहता है।

(३) आलस्य, निद्रा, अनुत्साह नाश होता है।

(४) इससे वीर्यरक्षा में भी बहुत सहायता मिलती है।

(१२) सात्विक भोजन

आयुः सत्वबलारोग्यं, सुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥
(भगवद्गीता)

जो आहार आयुष्य, ओज, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ाने वाला हो और जो सरस, चिकना, गुरु तथा रुचि-वर्द्धक हो वह सात्विक लोगों को प्रिय होता है।

ब्रह्मचर्य पालन करने वालों को आहार पर बहुत ध्यान देना चाहिये। तामस आहार से कभी वीर्य-रक्षा नहीं हो सकती। सात्विक आहार करते रहने से मानसिक वृत्ति भी सात्विक बन जाती है।

(१) सात्विक आहार से शरीर की सब धातुओं को लाभ पहुँचता है। (२) बुद्धि और शक्ति बढ़ती है। (३) काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह का नाश होता है। (५) स्वास्थ्य और जीवनी-शक्ति की वृद्धि होती है।

१३—फलाहार

वैद्यक शास्त्रों में फलाहार के अपरिमित लाभों का वर्णन है। इस बात को प्रायः सभी लोग जानते होंगे कि हमारे ऋषि-मुनि फलाहारी होते थे। बहुत से लोग ऐसी भी हुए हैं कि जिन्होंने फल या मूलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाया है। दूर्वासा ऋषि दूब ही खाकर बहुत दिनों तक जीवित रहे।

फलों में प्राकृतिकता विशेष है। बहुत से वैद्य लोग बड़े बड़े रोगियों को फल खाने की सलाह देते हैं। एकादशी जैसे कई उपवास व्रतों में भी लोग फल खाकर रह जाते हैं। भोजन कर लेने के पश्चात् फल खाना बहुत आवश्यक है। जो लोग काम-विकारों से विशेष पीड़ित हों, वे कुछ दिनों तक फल खाकर ही रहें। जो फल जिस ऋतु में होता है, वह उस ऋतु में अधिक लाभकारी होता है। वीर्य-रक्षा के लिये फलों का खाना भी बहुत लाभदायक है।

अब हम फलाहार से होने वाले कतिपय लाभों को नीचे लिखते हैं:—

(१) फलाहार से स्वास्थ्य, दीर्घायु, बल और बुद्धि की बढ़ती होती है।

(२) कोष्ठबद्धता, निर्बलता, मल-विकार, ज्वर तथा अन्य रोगों से रक्षा हाती है।

(३) मन शान्त होकर सत्कर्मों में लगता है।

(४) वीर्य पुष्ट होता है, काम-शक्ति की प्रेरणा दब जाती है, और इन्द्रियों पर विजय मिलती है।

---

(१४) दुग्ध-पान

इस संसार में यदि कोई पदार्थ अमृत कहलाने योग्य है तो वह दूध ही है। प्रायः सभी वैद्यक शास्त्रों के रचयिताओं ने इस की प्रशंसा की है। पाश्चात्य देश के कई डाक्टर लोग केवल दूध से ही कई रोगों को दूर करते हैं।

वास्तव में दूध से बढ़कर कोई खाने-पीने योग्य पदार्थ है ही नहीं। यही कारण है कि इस देश के ऋषि-महर्षि तक अपने पास गौ रखते थे। यह बड़ा ही सात्विक आहार है।

केवल दूध पीकर भी कई दिनों तक रहा जा सकता है। जो लोग यह ख़याल करते हों कि दूध पीने से वीर्य-रक्षा नहीं हो सकती, वे भूल करते हैं। थोड़ा सा धारोष्ण दूध पीना बड़ा ही हितकर होता है। इस दूध से काम-विकार उत्पन्न नहीं होता। ताज़ा निकला हुआ दूध बहुत गुणकारी होता है। शास्त्रों में लिखा है:—

"पीयूषोऽभिनवे पय।"

तुरन्त के दुहे हुए दूध का नाम ही पीयूष है। इस विषय में गो का दूध ही मान्य है। भैंस आदि के दूध में वह बात नहीं। भैंस का दूध तमोगुण बढ़ाता है। वह विषय की उत्तेजना भी प्रकट करता है।

अब हम दुग्धपान से होने वाले कुछ गुणों को नीचे देते हैं:-

(१) गो का धारोष्ण दूध थोड़ा सा प्रातःकाल पीने से मन को शान्ति मिलती है। (२) पवित्र बुद्धि, सात्साहस, पढ़ने-पढ़ाने में उत्साह, धार्मिक विचार तथा आनन्द उत्पन्न होता है। (३) कई प्रकार के धातु सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। (४) क्षीणता, ह्रास तथा अन्य दोषों को नष्ट कर हृदय, मस्तिष्क तथा सर्वाङ्ग पुष्ट तथा तेजस्वी बनता है। (५) व्यर्थ की उत्तेजना शान्त करता है।

(१५) सत्संग

'सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुन्साम् ।'

(सूक्ति)

सज्जनों की संगति पुरुष को क्या नहीं बना सकती ।

तात ! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग ।
तुलै न ताहि सकल मिलु, जो सुख लव सत संग ॥

(रामायण)

सत्सङ्ग की महिमा प्रायः सभी वेद-पुराणों में गाई और दिखलाई गई है । बड़े बड़े पापी और कुविचारी लोग सत्सङ्ग के प्रभाव से महात्मा और मुक्त हो गये हैं । जैसे लोहा पारस के छूने से सोना बन जाता है, वैसे ही नीच मनुष्य भी सत्सङ्ग पाते ही सुजन हो जाता है ।

सङ्ग का प्रभाव बड़ा ही अटूट होता है । जैसा सङ्ग होता है, वैसा ही भला बुरा उसका प्रभाव भी होता है । कुसङ्ग में पड़ कर बहुत से लोग अपने जीवन को नरकमय बना डालते हैं । इसी लिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है :—

वरु भल वास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ विधाता ॥

कुसङ्ग में पड़ कर अपने को सदाचारी और संयमी बनाये रखना लोहे के चना चबाने के समान है । अच्छे से अच्छे पुरुष को भी इस बात का अभिमान न करना चाहिये कि वह खलों की मण्डली में घुस कर अपना धर्म निभा सकेगा । क्योंकि ऐसा करना विषपान कर जीवित रहने की आशा करने की भाँति है । अतएव जो लोग वीर्य-रक्षा के प्रेमी हों, वे सदैव कुसङ्ग से दूर रहें ।

अब हम कुछ सत्सङ्ग के लाभों को नीचे लिखते हैं:—

(१) सत्सङ्ग से मन का अविवेक छूट जाता है, और सद्-बुद्धि का उदय होता है। (२) शारीरिक और मानसिक उन्नतियों की शिक्षा मिलती रहती है। (३) सांसारिक प्रपञ्चों से जीवन मुक्त हो जाता है। (४) भगवद्भक्ति, कृतज्ञता और परोपकारिता के भाव दृढ़ हो जाते हैं। (५) भोग-विलास की निःसारता प्रकट हो जाती है।

---

(१६) सद्ग्रन्थों का पाठ

सद्ग्रन्थवाचन परो भव मित्र नित्यम्।

(सूक्ति)

हे मित्र ! अच्छे ग्रन्थों के पढ़नेवाले बनो !

यस्यास्ति सद्ग्रन्थ विमर्श भाग्यं।
किं तस्य शुष्कैश्चपला विनोदैः।

(सूक्ति)

जिसके भाग्य में उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुशीलन करना बदा है, उसके लिये लक्ष्मी के शुष्क विनोद किस काम के।

सद्ग्रन्थ मनुष्य के सब से श्रेष्ठ मित्र हैं। ये ऐसे मित्र हैं कि प्रत्येक समय में हृदय को शान्ति प्रदान करते हैं। आज तक जितने महात्मा हुए हैं, प्रायः सब पर इनका प्रभाव पड़ा है। इन्हीं के कारण ज्ञान का कोष संसार में सुरक्षित है। जिसने इनकी आराधना की उसे कुछ न कुछ अवश्य मिला।

वास्तव में सद्ग्रन्थों की महिमा अपार है। यही कारण है कि कवि, तत्ववेत्ता, विरक्त, योगी, साधु, भक्त तथा अनुरक्त लोग

इनको पढ़ कर अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं। इनका संग्रह धन के संग्रह से भी कहीं बढ़ कर होता है। मनुष्य-जाति इन्हीं की सहायता से सर्वोन्नति कर सकता है। कुविचारियों के भी विचार झट पलट जाते हैं।

आजकल अश्लील तथा लज्जाजनक उपन्यासों के प्रचार से समाज की बड़ी दुर्गति हो रही है। विद्यार्थियों के दुराचारी होने का बहुत कुछ कलङ्क इनके सिर पर भी लगाया जा सकता है। बुरे साहित्य के प्रचार से समाज में दुराचार तथा व्यभिचार की वृद्धि होती है। इन बुरे ग्रन्थों से ब्रह्मचर्य का अधिक रूप से ह्रास हो रहा है।

अतः जो लोग वीर्य-रक्षा करना चाहें, वे बुरे ग्रन्थों से अवश्य बचें। और अपने अवकाश के समय में सदाचार, नीति, धर्म, जीवनचरित्र तथा गम्भीर विषयों के, जैसे रामायण, गीता, योग वाशिष्ठ, मनुस्मृति, दर्शन-शास्त्र तथा स्वा० विवेकानन्द, ऋ० दयानन्द, स्वा० रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, तुकारामजी आदि के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के पढ़ने में मन लगावें। पढ़ने का क्रम नित्य होना बहुत ही उपादेय होता है।

(१) सद्ग्रन्थों के निरन्तर पाठ से कर्मनिष्ठा, प्रसन्नता, धीरता, सेवा-शक्ति, दया और गुणग्राहकता की वृद्धि होती है। (२) चिन्ता, भय, पराधीनता, द्वेष तथा अहङ्कार से रक्षा होती है। (३) मन और मस्तिष्क को दृढ़ता और शान्ति मिलती है। तथा (४) मनुष्य उद्योगी और परिश्रमी बन जाता है।

(१७) नियम-बद्धता

मनुष्य-जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने में नियम-बद्धता का बहुत बड़ा हाथ होता है। जो लोग नियम से अपने काम करने वाले नहीं होते, वे कभी उच्च और आदर्श पुरुष नहीं बन सकते।

भारतवर्ष में और विशेष कर हिन्दू-जाति में अब नियम-बद्धता को बहुत कम महत्व दिया जा रहा है। यहाँ की अपेक्षा पाश्चात्य देशवासी बहुत ही नियम-बद्ध होते हैं। यही कारण है कि वे विशेष करके स्वस्थ, उद्योगी, साहसी, मेधावी और दृढ़ प्रतिज्ञ होते हैं। अनियमित पुरुष कभी किसी कार्य में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता। अतः वीर्य-रक्षा के प्रेमियों को चाहिये कि नियम-बद्ध होने का सब से पहले उद्योग करें।

जैसा कुछ नियम बनाया गया हो, उसे उचित समय पर व्यवहार में लाने का नाम 'नियम-बद्धता' है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिये कुछ न कुछ विचार-पूर्ण उपयोगी नियम बना ले और फिर उनके अनुसार चलने का पूरा प्रयत्न करे।

(१) नियम-बद्धता से मनुष्य अपनी सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। अपने अंगीकृत कामों को पूरा कर सकता है। (२) उद्योगशीलता, कर्त्तव्यपरायणता, दृढ़ता और काय-कारिता में मन लगता है। (३) विद्या और धन का संग्रह किया जा सकता है। और (४) विषय-भोगों की ओर चित्त नहीं दौड़ता।

(१८) शिव-सङ्कल्प

'हृत्प्रतिष्टां अजिरं जविष्ठां तन्मेमनः शिव सङ्कल्पमस्तु ।
(यजुर्वेद)

'सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ।'
(मनुस्मृति)

सभी उत्तमोत्तम कार्य सङ्कल्प से ही होते हैं ।

सङ्कल्पेन विना राजन्, यत्किञ्चित्कुरुते नरः ।
फलस्याल्पाल्पकं तस्य, धर्मस्यार्धक्षयं भवेत् ॥
(पद्मपुराण)

हे राजन् ! सङ्कल्प के विना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत कम होता है, और उसके धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है ।

हिन्दू-धर्म में प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ करने में सङ्कल्प करना पड़ता है । इस कृत्य में बहुत बड़ा तत्व छिपा हुआ है । सङ्कल्प-हीन कार्यों की पूर्ति में सन्देह रहता है । वीर्य-रक्षण भी एक प्रकार का व्रत है । जिसमें दृढ़ सङ्कल्प नहीं, वह इसमें कभी सफल नहीं हो सकता । सङ्कल्प के अनुसार ही शुभाशुभ कार्य भी होता है । इसलिये सदैव अपने सङ्कल्प को शुभ रखना चाहिये ।

सङ्कल्प इस प्रकार का होना चाहिये:—

मैं आज से ब्रह्मचर्य (वीर्य-रक्षा) में दत्तचित्त रहूँगा । व्यभिचार से सदैव घृणा करता रहूँगा । मैं पर-स्त्री पर कुदृष्टि न डालूगा । मैं अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहूँगा । मैं अपनी मानसिक और शारीरिक उन्नति करूँगा । मैं परमात्मा और धर्म को छोड़कर किसी से न डरूँगा इत्यादि ।

इस देश के प्राचीन निवासी प्रायः आडम्बर से घृणा करते थे। उन्होंने कभी अपने को उसका गुलाम नहीं बनाया। यही कारण था कि वे लोग बुद्धिमान, वीर और ऐश्वर्यवान होते थे। उनका समय और परिश्रम व्यर्थ आडम्बर में नहीं लगने पाता था।

---

(३४) मातृ-भाव

मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

(सूक्ति)

जो पराई स्त्री को माता के सदृश, पराये धन को ढेले के समान और दूसरे को अपने तुल्य समझे, वह विद्वान् है।

सब के उपकारों का कुछ बदला दिया जा सकता है, पर पूज्य माता के उपकारों का नहीं। मातृ-भाव की महानता शब्दों में नहीं दरसाई जा सकती है। माता के प्रति किसी की कुभावना नहीं होती। यदि संसार की स्त्रियों को माता मान लें, तो फिर हृदय में काम का कुछ विकार उठ नहीं सकता। इसलिये ब्रह्मचर्य के प्रेमी को मातृ-भाव को मन, वच तथा कर्म से अपनाना चाहिये। अपनी अवस्था से बड़ी जितनी स्त्रियाँ हैं, उन्हें माता जानना उन्हें आदर-सूचक शब्दों से सम्बोधित करना और उनका भय मन में रखना चाहिये। वीर्य-रक्षा का यह सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

श्रीराम ने वीर लक्ष्मण को सीताजी के गहने दिखा कर

अनमोल गुणों को जानते हैं, वे इसको उन्नत करने का अभ्यास भी करते हैं।

प्राचीन समय में इस देश के ऋषि-मुनि इस इच्छा-शक्ति से बहुत कुछ काम लेते थे। इसके बल पर कठोर से कठोर व्रत की साधना में सफल होते थे। अब भी कुछ लोग इच्छा-शक्ति से लाभ उठाते हैं। इसका यह गुण है कि यह जिधर प्रेरित की जाती है, उधर ही कार्य कर बैठती है। इसे न जानने वाले लोग अज्ञानवश इससे अनुचित कार्य भी ले लेते हैं। इस प्रकार वह मन्द हो जाती है। अतएव इसे बलवती बनाने का सदभ्यास करना चाहिये। वीर्य-रक्षा के प्रेमी इससे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। शान्त चित्त हो कर एकान्त में इसका प्रयोग नित्य करने से बड़ा हित होता है। अपनी इच्छा को खींच कर किसी सत्कार्य के सम्पादन में लगाना चाहिये। ऐसे समय में मन में उसी वस्तु का चिन्तन करना चाहिये। अपने हृदय में या वाणी से कह कर उसकी दृढ़ता निम्नलिखित वाक्यों में करना चाहिये:—

वीर्य-रक्षा में अवश्य सफल हो रहा हूँ। यह मेरे लिये कोई कठिन काम नहीं। काम विकारों पर मेरा अधिकार हो गया है। वृथा की वासनायें मुझे नहीं सता सकतीं। स्वप्न में भी मेरी इच्छा के विरुद्ध एक बिन्दु वीर्य का पतन नहीं हो सकता। मेरा मन सदाचार में रम रहा है। कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो मुझे घृणित कार्यों में फँसा दे इत्यादि।

इच्छा-शक्ति के प्रयोग से होने वाले कुछ लाभ नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) मन अधिकार में हो जाता है। (२) दिन-रात

प्रसन्नता और धीरता रहती है। (३) कर्त्तव्य-पालन में सफलता होती है। एवं (४) स्वस्थता और जीवनी-शक्ति बढ़ती है।*

---

(२०) सदभ्यास

अतिशय रगड़ करै जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई॥

(रामायण)

'अभ्यासात्फल मश्नुते।'

अभ्यास के द्वारा कर्त्तव्य का फल मिलता है।

अभ्यास की श्रेष्ठता शब्दों से कह कर नहीं बतलाई जा सकती। अभ्यास ही बढ़कर फल के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे जो विद्यार्थी व्याकरण का आचार्य बनना चाहे, उसे व्याकरण का नियमित रूप से अभ्यास करना पड़ता है। यदि वह पढ़ने का अभ्यास न करे, तो सफल नहीं हो सकता। इसलिये जो लोग ब्रह्मचारी बनना चाहें, वे भी वीर्य-रक्षा का अभ्यास करें। पहले पहल असफल होने पर भी अभ्यास को न छोड़ना चाहिये। केवल मन में ही सोच लेने से काम नहीं चलता। अभ्यास ही उसके साधन का मूल है। जिसकी इन्द्रियलोलुपता बढ़ गई हो, और उसका छुटना कठिन हो गया हो, उसे भी हताश हो कर बैठ न जाना चाहिये। बल्कि उससे छुटने के उपायों का निरन्तर अभ्यास

---

* इस विषय में अधिक जानने के लिये लेखक की 'इच्छा-शक्ति' नामक पुस्तक देखनी चाहिये।

करना चाहिये और हम विश्वास दिलाते हैं कि कुछ ही दिनों में उसका अभ्यास पुष्ट होते ही उसकी विजय होगी और उसकी इन्द्रिय-लोलुपता अवश्य दब जायगी।

किसी बात का अभ्यास भी धीरे-धीरे करना चाहिये। एकदम करने से हानि होती है और अभ्यास भी छूट जाता है। अभ्यास की ओर सदैव सचेष्ट रहना चाहिये। जो दुर्गुण जान पड़ें, उन्हें छोड़ने और सद्‌गुणों को ग्रहण करने में भी धीरे-धीरे अभ्यास किया जा सकता है।

अब हम अभ्यास से होने वाले कुछ गुणों को नीचे लिखते हैं:—

(१) अभ्यास से साधना सफल होती है। (२) मनुष्य स्वात्मावलम्बी बन जाता है। (३) कुछ ही दिनों में सद्‌गुणों की वृद्धि होती है। (४) मन में प्रसन्नता होती है तथा (५) बुरे कार्यों के लिये अवकाश नहीं मिलता।

---

(२१) वैराग्य

सर्वं परिग्रह-भोग-त्यागः।
कस्य सुखं न करोति विरागः॥

(शङ्कराचार्य)

सब प्रकार की तृष्णा और भोगों को छोड़ देना इस प्रकार का वैराग्य भला किसे सुख नहीं देता ?

इस देश के प्राचीन निवासी गृहस्थाश्रम में रह कर भी वैरागी होते थे। विदेह जनक ऐसे ही वैरागी थे। इसका फल यह

होता था कि माया उन पर पूर्ण रूप से अधिकार जमाकर अनर्थ नहीं करा सकती थी।

वास्तव में जब तक हृदय में वैराग्य-भाव जड़ नहीं जमा लेता, विषय-वासनायें उसका पीछा छोड़ती ही नहीं। काम, क्रोध, मद और लोभ आदि के घटाने के लिये वैराग्य ही समथ होता है। ब्रह्मचर्य का नाश न होने देनेवालों को वैराग्य में अवश्य भाग लेना चाहिये। वैराग्य युक्त मन बनाने के लिये इस प्रकार विचार करना चाहिये:—

यह संसार ही असार है। पुण्य ही यहाँ सब कुछ है। पापियों को नरक भोगना पड़ता है। विषय-भोग में वास्तविक सुख नहीं। अज्ञानता में पड़ कर किसी प्रकार का व्यभिचार न करना चाहिये। कोई अमर नहीं होने आया है। जीवन, धन और यौवन थोड़े ही दिनों तक रहते हैं। अतएव इनका अभिमान न करना चाहिये। यह मनुष्य-देह ही अपने स्वार्थ-साधनके लिये नहीं मिली है। यह दूसरों की सेवा करने के लिये मिली है। मुझे अपना तन, मन, धन अर्थात् सर्वस्व धर्म-सेवा, देश सेवा के लिये अर्पण कर देना चाहिये।

---

(२२) परिश्रम और उत्साह

'उत्साह वन्तः पुरुषा, नावसीदन्ति कर्हिचित्।'

(वा० रामायण)

उत्साही पुरुषों को कभी कष्ट नहीं हो सकता।

परिश्रम और उत्साह में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिश्रम और उत्साह से संसार के सारे कार्य सम्पादित होते हैं।

दिन-रात परिश्रम में लगे रहने से विषय-वासनायें नहीं सतातीं। निरुद्यमी लोगों को ही विलासिता में आनन्द मिलता है। उत्साही पुरुष कभी आलसी होकर नहीं बैठ सकता। उसका मन सदैव ऊँचे से ऊँचे कार्य के सञ्चालन में लगा रहता है। इसलिये उसे भोग-विलास की बातों में पड़ने का अवसर ही नहीं मिलता। जो लोग अपने वीर्य की रक्षा करना चाहते हों, उन्हें कभी निरुद्यमी और अनुत्साही बन कर न रहना चाहिये। क्योंकि आलस्य ही शैतान का घर है। निरुद्यमी रहने से सदा कुविचार उत्पन्न होते रहते हैं। अतएव सब लोगों को परिश्रमी और उत्साही बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

---

(२३) सच्ची श्रद्धा

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'

(भगवद्गीता)

जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बनता है।

बिना सच्ची श्रद्धा के मनुष्य किसी भी कार्य को सुचारुता से नहीं कर सकता। अश्रद्धा होने से कर्त्तव्य-पालन में मन ही नहीं लगता और उसके कार्य में भी सफलता नहीं मिलती।

वीर्य-रक्षा के लिये भी सच्ची श्रद्धा की आवश्यकता होती है। जो पुरुष ब्रह्मचर्य के प्रति अपने हृदय में सच्ची श्रद्धा नहीं रखता, वह कभी संयम नहीं कर सकता। श्रद्धालु पुरुष ही इस उत्कृष्ट व्रत का पालन कर सकता है। इसलिये जो लोग वीर्य-

रक्षक बनना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि पहले पहल उसके सच्चे श्रद्धालु बनें।

सच्ची श्रद्धा से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) सच्ची श्रद्धा से कोई भी कार्य सरलता से सिद्ध हो जाता है। (२) मन में उत्साह रहता है। (३) प्रसन्नता और तत्परता रहती है। (४) दुर्गुणों का नाश होता है। और (५) सब प्रकार के सुधार और आत्म-संयम हो सकते हैं।

---

(२४) दृढ़ विश्वास

'विश्वासः फल दायकः।'

(सूक्ति)

विश्वास फल का देने वाला होता है।

विश्वास के बिना प्रत्येक कार्य के करने में भय प्रतीत होता है। और भय के हो जाने मे उसकी पूर्ति के लिये उचित उद्योग नहीं होता। अविश्वास के कारण हमने कई लोगों को साधारण से साधारण कार्य में असफल होते देखा है, और कठिन से कठिन कार्य में भी अपने विश्वास के कारण लोग सफल हुये हैं। वीर्य-रक्षा के लिये भी दृढ़ विश्वास की नितान्त आवश्यकता होती है। इस बात का प्रति समय विश्वास रखना चाहिये कि हम अवश्य इस व्रत में सफल होंगे। फिर किसी भाँति का भय नहीं हो सकता। कष्टों के पड़ने पर भी विश्वास को दृढ़ रखना चाहिये।

दृढ़ विश्वास से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) दृढ़ विश्वास से कार्य-साधन में सफलता मिलती है।

(२) हृदय में स्वाभाविक शान्ति रहती है। (३) मनुष्य धीरता से कार्यों में लगा रहता है। (४) उद्योग में कमी नहीं होती। एवं (५) सद्विचारों की उत्पत्ति होती है।

(२५) विश्व-प्रेम

'उदार चरितानांतु, वसुधैव कुटुम्बकम्।'

जो उदार चरित्र वाले पुरुष हैं, वे संसार को अपना कुटुम्बी मानते हैं।

विश्व-प्रेम वही है, जिसमें कि अपने-परायेपन का भेद-भाव नहीं रह जाता। ऐसे प्रेमी का हृदय शुद्ध और सरल हो जाता है। उसके विचार श्रेष्ट और पवित्र हो जाते हैं। इसी से वह संसार के स्त्री-पुरुषों को अपना कुटुम्बी समझता है। ऐसा कदाचित् ही कोई नीच मनुष्य हो, जो अपने कुटुम्बियों के प्रति दुर्भाव रखता हो और उनका अहित चाहता हो! विश्व-प्रेमी के हृदय में अन्य किसी स्त्री पर कुदृष्टि फेरने का विकार ही नहीं उठ सकता। वह तो अधम और अन्यायियों को भी सदाचारी और चरित्रवान् तथा कुलटा और व्यभिचारिणी को साध्वी और सदाचारिणी बनाने का प्रयत्न करता रहता है। वह सुख और शान्ति के लिये वायु-मण्डल को ही ब्रह्मचर्यमय देखना चाहता है। उसके विश्व-प्रेम का यह अन्तिम ध्येय होता है। फिर ऐसा पुरुष वीर्य-रक्षा में अपने को निश्चय रूप से समर्थ बना सकता है।

अतएव ऐसी उच्चभावना सदा मन में रखनी चाहिये।

(२६) खड़ाऊ पहनना

वीर्य-रक्षा के लिये खड़ाऊ पहनना बड़ा श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य की दीक्षा के समय बालक को पादुका (खड़ाऊ) पहना दी जाती है। बहुत से सन्यासियों को भी हमने सदा खड़ाऊ पहनते हुये देखा है। खड़ाऊ काठ की बनी होती है। इसकी पवित्रता में तो कोई सन्देह ही नहीं। फिर ये दिन-रात में आवश्यकता पड़ने पर जल से धोई भी जा सकती है। ये दोनों पैरों में पहनी जाती हैं और इनकी दोनों खूँटियाँ दोनों अँगूठों की मोटी नसों को दबाती हैं। इन नसों का और जननेद्रिय का बड़ा भारी सम्बन्ध है। इनकी दाब से जननेन्द्रिय में व्यर्थ और असमय में उठने वाली उत्तेजना दब जाती है। इनका प्रभाव मस्तिष्क तक पड़ता है। इसलिये काम-विकार भी बाधा नहीं पहुँचाने पाते। पादुका के गुणों को इसके अभ्यासी स्वयं जान सकते हैं।

नित्य की पहनने वाली पादुकायें पुष्ट लकड़ी की बनी हुई हलकी होनी चाहिये। उनकी खूँटियाँ गोल, बड़ी और नीचे गिद्दीदार रहें। इसके विरुद्ध रहने से आँखों को हानि पहुँचती है।

जूते की अपेक्षा खड़ाऊँ के पहनने में विशेष सरलता और सुविधा होती है। खर्च भी कम पड़ता है। धर्म की रक्षा होती है। जूते पहननेवालों के पैरों में बड़ी बदबू रहती है और इसीलिये नाना प्रकार के रोग उससे शरीर में पैदा हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य-पालन करने वालों के लिये पादुका-धारण बहुत ही लाभप्रद है। इस सम्बन्ध में हमारा स्वयं भी ऐसा ही अनुभव है।

पादुका-धारण से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) इससे अण्ड-वृद्धि नहीं होती और जननेन्द्रिय में अनावश्यक उत्तेजना नहीं उठती। (२) मन शान्त और अधिकार में रहता है। (३) बुद्धि और शक्ति की वृद्धि होती है। तथा (४) विषय-शक्ति और दुमति घट जाती है।

---

(२७) सूर्यताप-सेवन

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

(यजुर्वेद)

चराचर प्राणी और समस्त पदार्थों का आत्मा और प्रकाशक होने से परमेश्वर का नाम 'सूर्य' है।

सूर्य भगवान से संसार का कितना बड़ा उपकार होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। बड़े बड़े विज्ञान-वेत्ताओं ने यह स्वीकार किया है कि यदि सूर्य न रहे, तो सर्वत्र अन्धकार हो जायगा और सारे मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्ष भयङ्कर सर्दी के मारे जीवित न बचेंगे। यह बात वास्तव में ठीक है। वेदों में भी सूर्य की बड़ी प्रशंसा की गई है।

सूर्य का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर बहुत गहरा पड़ता है। चिकित्सकों का मत है कि सूर्य की किरणों के सेवन से प्रत्येक प्रकार के रोग शान्त किये जा सकते हैं

वीर्य-रक्षा के लिये भी सूर्य-किरणें बहुत उपयोगी हैं। अधिक से अधिक एक घण्टा नित्य सूर्य-किरणों के सेवन से बड़ा लाभ हो सकता है।

सब कपड़े खोल कर सूर्य की ओर मुख कर बैठ जाना चाहिये और फिर यह मन में सोचना चाहिये कि सूर्य की ये किरणें, जो मेरे शरीर पर पड़ रही हैं, मेरे वीर्य को पुष्ट और शुद्ध बना रही हैं। सारे शरीर में नया जीवन भर रहा है। शरीर के बुरे परमाणु नष्ट हो रहे हैं इत्यादि। इस प्रकार कुछ दिन तक अभ्यास करने से ब्रह्मचर्य के पालन में अच्छी सहायता मिलती है।

सूर्य ताप-सेवन से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) सूर्य-ताप-सेवन से जीवनी-शक्ति बढ़ती है। (२) सर्वाङ्ग के रोग दूर होते हैं। (३) मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। (४) साधना की वृद्धि होती है। तथा (५) कान्ति, तेजस्विता और धीरता बढ़ती है।

---

(३८) सामयिक शयन

निद्रा तु सेविता काले, धातुसाम्यमतिन्द्रिताम् ।
पुष्टिं वर्णं बलोत्साहं वह्निदीप्तिं करोतिहि ॥

रात में ठीक समय पर सोने से धातु ठीक अवस्था में रहती है और सुस्ती भी दूर होती है। पुष्टि,कान्ति,बल और उत्साह भी बढ़ता है तथा अग्नि भी दीप्त होती है।

दिन भर काम करने के पश्चात् रात में शान्तिपूर्वक सोना चाहिये। स्वास्थ्य के लिये यह भी एक आवश्यक कार्य है। न सोने से कई प्रकार के हानिकारक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे, अजीर्ण, उदासीनता, आलस्य, ज्वर, स्वप्नदोष, वायुविकार,

उन्माद तथा बुद्धि-भ्रंश इत्यादि। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को कम से कम छः घण्टे तक तो अवश्य सोना चाहिये।

कुछ लोग अधिक रात तक सोते हैं और सूर्य उग जाने के उपरान्त भी सोते रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो रात में जागते और दिन में सोते हैं। ऐसे लोग कदापि वीर्य-रक्षा में सफल नहीं हो सकते। सोने का प्रभाव हमारे सब अङ्गों की नस नस पर पड़ता है। समय पर न सो जाने से सब को बड़ी क्षति पहुँचती है। रक्त में उष्णता उत्पन्न हो जाने से वीर्य बिगड़ कर किसी न किसी रूप में बाहर निकल जाता है।

बहुत से विद्यार्थी ऐसे हैं जो अधिक रात तक जाग कर पढ़ते हैं, इससे वे प्रायः अस्वस्थ रहते हैं। स्वप्नदोष उनके पीछे लग जाता है। कोष्ठ-बद्धता के कारण मल-मूत्र त्यागने में ज़ोर देने से उनका वीर्य बाहर निकल जाता है। ऐसे कई विद्यार्थियों को हमने सामयिक शयन से नीरोग किया है। इसलिये ब्रह्मचर्य रखने वालों को भी हम यही सम्मति देते हैं कि १० बजे रात तक अवश्य सो जाया करें, ताकि प्रातःकाल ४ बजे वे उठ सकें।

सामयिक शयन से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) सामयिक शयन से सारा श्रम दूर हो जाता है। (२) पुनः कार्य करने की नवीन शक्ति प्राप्त होती है। (३) आयुर्बल बढ़ता है। (४) स्वप्नदोष, धातुदौर्बल्य, शिरोरोग, आलस्य, अल्पमूत्र और रक्त-विकार आदि से रक्षा होती है। (५) नेत्रों और हृदय को विश्राम मिल जाता है।

(२९) शुभ दर्शन

दर्शन का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध मस्तिष्क के साथ है। नेत्रों की शक्ति का केन्द्र हमारे मस्तिष्क में है। इसलिये जो कुछ देखते हैं, उसका प्रभाव चिरस्थायी हो जाता है। यह मानस-शास्त्र का नियम है।

हमारे हिन्दू-धर्म में दर्शन का बड़ा महत्व माना गया है। ऐसा विरला ही कोई हो जो किसी न किसी देवी-देवता के दर्शन छुट्टी मिलने पर न करता हो। भगवान् के दर्शन करने से मन पवित्र होता है। दर्शन के समय हमको भगवान के चरित्र का स्मरण कर उनके गुणों का अनुकरण करने की भावना पैदा करनी चाहिये और अपने चरित्र के दोषों पर विचार करना चाहिये।

इसी प्रकार सच्चे वैरागी महात्मा, तथा ऋषि लोगों के दर्शन से भी लाभ होता है। निरन्तर के अभ्यास से जब एक प्रकार की छवि हृदय में बैठ जायगी तो फिर दूसरी दूषित भावना या मूर्ति अपना स्थान न जमा सकेगी।

शुभ दर्शनों से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) प्रेम, सदाचार, सौजन्य, भक्ति-भाव और सद्विचार की वृद्धि होती है। (२) चिन्ता और ग्लानि दूर होती है। (३) कुकर्मों में चित्त नहीं दौड़ता। (४) धर्म में उत्साह बढ़ता है। (५) हृदय में सदा शुद्ध भावनाऐं जागृत रहती हैं।

(३०) दैनिक व्यायाम

शरीरोपचयः कान्ति गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं, स्थिरत्वं लाघवंमृजा॥
श्रमक्लमपिपासोष्ण शीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यञ्चादि परमं, व्यायामादुपजायते॥

(सुश्रुत-संहिता)

व्यायाम करने से शरीर की कान्ति बढ़ती है, सब अङ्गों का गठन भला मालूम होता है। अग्नि-दीप्तता, निरालस्य, स्थिरता, स्फूर्ति, निरोगिता, परिश्रम, थकावट, सर्दी और गर्मी आदि के सहने की शक्ति और उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है।

इस देश में व्यायाम के महत्व से प्रायः लोग परिचित हैं। प्राचीन समय में हिन्दू-जाति इससे बहुत लाभ उठा चुकी है। अभी भी बहुत से लोग किसी न किसी प्रकार के व्यायाम के अभ्यासी देखे जाते हैं। शरीर के लिये व्यायाम अमृत रूप है और यही सब कर्मों का साधन है। व्यायाम से ही दुर्बलेन्द्रिय भी बलवान हो जाते हैं।

व्यायाम के आजकल अनेक प्रकार हैं। पर देशी व्यायाम उत्तम है जैसे डँड, बैठक, दौड़ और भिड़न्त आदि। व्यायाम वीर्य-रक्षा का भी परमोत्तम साधन है। जो वीर्य-रक्षक नहीं है, वह कभी व्यायाम में सफल नहीं हो सकता। लड़ने-भिड़ने वाले लोग अपने वीर्य पर संयम रखते हैं। नियम-पूर्वक एक वर्ष तक किसी प्रकार का व्यायाम करते रहने से शरीर सुदृढ़ और सुन्दर

बन जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले के लिये व्यायाम बड़ा ही उपयोगी होता है।

व्यायाम दो बार किया जा सकता है। यदि न हो सके, तो एक बार सबेरे तो अवश्य ही करना चाहिये। व्यायाम के पश्चात् थोड़ी देर ठहर कर कुछ जलपान कर लेना चाहिये।

(१) दैनिक व्यायाम से मन शान्त और सदा प्रसन्न रहता है। (२) कठिन से कठिन कार्य सरल ज्ञात होते हैं। (३) इन्द्रियों के दमन की शक्ति मिलती है। (४) विषय-भोगों में निर्लिप्तता होती है। तथा (५) अनेक शारीरिक और मानसिक दुःख दूर हो जाते हैं।

---

(३१) आसनों का अभ्यास

योग-शास्त्र में आसन भी योग का एक अङ्ग माना गया है। इसे एक प्रकार का व्यायाम भी कह सकते हैं। शरीर के लिये तो यह अत्यन्त उपयोगी है ही, पर इससे मानसिक लाभ भी बहुत होता है। जब तक आसन स्थिर नहीं होता, मन की चञ्चलता जाती नहीं। अनस्थिरता के कारण भी मन में विषय-वासनायें जागृत हो उठती हैं। कुछ आसन ऐसे हैं, जिनसे वीर्य-रक्षा तथा इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि योगी लोग आसन के प्रायः अभ्यासी होते हैं।

सीधे बैठना, सीधे चलना आदि भी आसनों के अङ्ग हैं, पर आजकल हम देखते हैं प्रायः लोग इस ओर ध्यान ही नहीं देते। इससे उनकी स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास-क्रिया (जो शरीर को

नीरोग रखने के लिये बड़ी आवश्यक है) उचित रूप से नहीं होती। इससे जीवनी-शक्ति घटती और रोग बढ़ता है।

हमारे विचार से आसनों में 'सिद्धासन' सर्व साधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी है इससे किसी प्रकार की किसी को हानि नहीं हो सकती। यह सरल भी है। इसकी अपेक्षा दूसरे आसन क्लिष्टसाध्य तथा देश, काल और बल का विचार रख कर किये जा सकते हैं। उनमें ज़रा भी त्रुटि होने से शारीरिक तथा मानसिक हानि होने की भी सम्भावना है।

इस आसन को करते समय समभूमि पर बैठना चाहिये। खाली पेट रहना उपयोगी है। स्नान के पश्चात् प्रातःकाल इसकी साधना अच्छी होती है। इस आसन से घण्टे भर तक चाहे बैठ सकते हैं, कोई क्षति की सम्भावना नहीं।

बाँयें पैर की एड़ी गुदा और इन्द्री के बीच में और दायें पैर की एड़ी बाँयें पैर पर लिङ्गेन्द्रिय के ऊपर रखनी चाहिये। सिर को सीधे, ठुड्ढी को झुका कर तथा आँखों को सामने करके कमर बिना झुकाये सीधे बैठ जाओ। शुरु शुरु में इसका अभ्यास करने में कुछ कठिनाई मालूम होगी। पर थोड़े दिनों के अभ्यास से ही यह साधा जा सकता है। जब कभी काम-विकार हृदय में पैदा हो, उसी समय यह आसन लगा कर बैठ जाना चाहिये और हृदय में परमात्मा का ध्यान कर अपने काम-विकार को धिक्कारना चाहिये। फिर देखिये आप के चित्त पर कैसा उत्तम प्रभाव होता है।

(३२) शीर्षासन

सिर के बल पर जो आसन साधा जाय, उसे 'शीर्षासन' कहते हैं। वास्तव में यह आसन सब आसनों में राजा के समान है। यह आसन योगियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। संयमी गृहस्थ भी इसे कर सकते हैं, पर एक बात अवश्य है कि इस आसन के करने में असावधानी हो जाने से हानि भी हो सकती है। इस आसन की साधना में खान-पान तथा नियम पालन की आवश्यकता होती है। बहुत निर्बलता और रोग की अवस्था में यह आसन न करना चाहिये।

इस आसन के करने में सारे शरीर का रक्त दौड़ कर मस्तिष्क में एकत्र होता है और समस्त रक्त-वाहिनी नाड़ियों को काम करना पड़ता है। अभ्यास बढ़ जाने पर नित्य अधिक से अधिक चौथाई घण्टा तक करना हितकर होता है।

किसी भींत के पास कपड़े की छोटी गद्दी बिछा कर अपने सिर को उस पर नीचे रख कर और दोनों हथेली को सिर से मिलाकर, दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर को उस भींत पर उठाना चाहिये। फिर दोनों पैरों को सटाकर ऊपर की ओर सिर के बिल कुल सीध में जितने समय तक ठहर सकें, ठहरना चाहिये। कई दिनों में इसका अभ्यास हो जाने पर बिना भींत के सहारे भी किया जा सकता है।

आसनों का अभ्यास कर लेने पर थोड़ी देर तक आराम कर लेना चाहिये। उत्तम तो यह हो कि किसी आसन जानने वाले के पास कुछ दिन रह कर अभ्यास कर लेना चाहिये।

शीर्षासन से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) शीर्षासन के करने से दूषित रक्त भी शुद्ध हो जाता है। (२) मेधा शक्ति बढ़ती है। (३) रोगों से मुक्ति मिलती है। (४) स्वास्थ्य में अपूर्व परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। एवं (५) वीर्य को शान्ति और पुष्टता प्राप्त होती है।

---

(३३) आडम्बर-शून्यता

आजकल पाश्चात्य सभ्यता की हवा लग जाने के कारण समाज में आडम्बर का प्रवेश हो गया है। हमारे विद्यार्थीगण जिनका जीवन सादा होना चाहिये, वे भी इसके फेर में फँस गये हैं। आडम्बर करने से मनुष्य की मान-प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, यह बात मान लेना भारी भ्रम है। सरलता और सादगी से रहना और उच्च विचार करने से ही मनुष्य संसार में सभ्य और श्रेष्ठ बन सकता है।

हमने आडम्बरी पुरुषों और स्त्रियों में प्रायः अविवेक अधिक देखा है। आडम्बर स्वयं व्यभिचार की ओर हृदय खींच ले जाता है। आडम्बर विकारों का मूल है।

व्यर्थ की वस्तुयें लेकर शरीर को सजाना और अङ्ग-प्रत्यङ्ग को बेढब रखना ही आडम्बर है। ऐसे कार्य करने वाले मूर्ख, दुराचारी और अविवेकी होते हैं। इसलिये जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हों, वे अवश्य अपने को नाना प्रकार के दिखावटी आडम्बरों से दूर रखें। इसी में उनका वास्तविक कल्याण है।

पूछा कि तुम इन्हें पहचानते हो कि ये किस के हैं? इस पर उन्होंने क्या कहा:—

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाभि वन्दनात्॥

(वाल्मीकि रामायण)

न तो मैं कंकणों को जानता हूँ और न कुण्डलों को ही। पर हाँ, मैं दोनों पाजेब को पहचानता हूँ। क्योंकि मैं नित्य जानकी जी के पैरों पर झुक कर प्रणाम करता था।

धन्य हो लक्ष्मण, धन्य! इसी का नाम मातृ-भाव है! इससे ब्रह्मचर्य की रक्षा क्यों न की जा सके?

परमहंस रामकृष्ण तो सारे संसार को ही मातृमय मान कर उपासना करते थे। इस प्रकार उन्होंने अपना सारा जीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य में बिताया।

एक साध्वी स्त्री स्वामी दयानन्द जी के पास आई, और कहा कि भगवन्, मैं आबाल ब्रह्मचारिणी हूँ, और आप भी एक आदर्श ब्रह्मचारी हैं। यदि आप मुझ से विवाह कर लें, तो मेरे गर्भ से आप जैसा ही दिग्विजयी विद्वान और लोकोपकारी पुत्र उत्पन्न होगा। इस पर स्वामीजी ने कहा 'हे माता तुम मुझे ही क्यों नहीं **अपना पुत्र मान लेती**'। यह उत्तर पाकर वह लज्जित हो गई।

—

(३५)

भगिनी-भाव में भी बड़ी
हृदय की दुर्वासना तत्क्षण ... की भावना से

पूछा कि तुम इन्हें पहचानते हो कि ये किस के हैं ? इस पर उन्होंने क्या कहा:—

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाभि वन्दनात्॥

(वाल्मीकि रामायण)

न तो मैं कंकणों को जानता हूँ और न कुण्डलों को ही। पर हाँ, मैं दोनों पाजेब को पहचानता हूँ। क्योंकि मैं नित्य जानकी जी के पैरों पर झुक कर प्रणाम करता था।

धन्य हो लक्ष्मण, धन्य ! इसी का नाम मातृ-भाव है ! इससे ब्रह्मचर्य की रक्षा क्यों न की जा सके ?

परमहंस रामकृष्ण तो सारे संसार को ही मातृमय मान कर उपासना करते थे। इस प्रकार उन्होंने अपना सारा जीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य में बिताया।

एक साध्वी स्त्री स्वामी दयानन्द जी के पास आई, और कहा कि भगवन्, मैं आबाल ब्रह्मचारिणी हूँ, और आप भी एक आदर्श ब्रह्मचारी हैं। यदि आप मुझ से विवाह कर लें, तो मेरे गर्भ से आप जैसा ही दिग्विजयी विद्वान और लोकोपकारी पुत्र उत्पन्न होगा। इस पर स्वामीजी ने कहा '**हे माता तुम मुझे ही क्यों नहीं अपना पुत्र मान लेती**'। यह उत्तर पाकर वह लज्जित हो गई।

---

(३५) भगिनी-भाव

भगिनी-भाव में भी बड़ी पवित्रता है। उसकी भावना से हृदय की दुर्वासना तत्क्षण शान्त हो जाती है।

माता की पुत्री को भगिनी कहते हैं। यह भी माता के पश्चात् आदरणीया समझी जाती है। इसके प्रति भी हृदय में दुर्भावना नहीं होती। ब्रह्मचर्य-पालन में भगिनी-भाव से भी अच्छी सहायता मिलती है। जो स्त्रियाँ समान वय वाली हों, उन्हें भगिनी-रूप समझना चाहिये।

एक समय की बात है कि छत्रपति शिवाजी ने एक युवती को किसी मुसलमान के हाथ से बँचाया। इस पर उसने कहा कि अब मैं आप की हो चुकी। किन्तु शिवाजी ने कहा कि मैंने यह कोई उपकार का काम नहीं किया। यह तो मेरा कर्त्तव्य ही था। तुम मेरी आज से धर्म-भगिनी हुई। इस पर उस स्त्री ने उन्हें शतशः धन्यवाद दिये।

एक पौराणिक कथा है कि देवयानी नाम की एक परम सुन्दरी कच नामक विद्यार्थी पर मोहित हो गई थी। वह कच को हृदय से प्यार करती थी। उसने एक दिन कच से वैवाहिक प्रेम चाहा। इस पर उसने कहा कि तुम मेरे गुरु की पुत्री होने के कारण धर्म-भगिनी हो! प्राण रहते, मैं कदापि तुम्हें नहीं वर सकता। इस प्रकार कच की रक्षा हुई। अतएव समान वय वाली स्त्रियों के प्रति भगिनी-भाव रखना चाहिये।

---

(३९) पुत्री-भाव

पुत्री की उत्पत्ति अपने ही शरीर से होती है। उसके प्रति सदैव मनुष्य का पवित्र स्नेह होता है। उसका उपकार आजीवन लोग करते रहते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य-रक्षा में पुत्री-भाव भी

बहुत सहायक होता है। जो स्त्रियाँ अपनी आयु से छोटी हैं, वे पुत्री ही हैं। उनको पुत्री वाले शब्दों से ही पुकारना चाहिये।

कई पुस्तकों में यह बात पढ़ी गई है कि इस प्रकार कई स्त्रियों ने अपने सतीत्व की रक्षा की है। शत्रुओं या दुराचारियों के अधिकार में आते ही, उन्होंने कहा कि मैं आपकी धर्म-पुत्री हूँ, जो चाहें सो करें। इस पर उन लोगों के हृदय हिल गये, और अत्याचार के लिये हाथ न उठ सके, बल्कि उन लोगों ने उन स्त्रियों को पुत्री की भाँति, उनके घर पहुँचा दिया। अतएव अपने से छोटी आयु वाली स्त्रियों के प्रति पुत्री-भाव रखना बहुत ही श्रेयस्कर है।

---

(३७) भाव की निर्मलता

मृत्तिकानां सहस्रैस्तूदककुम्भ शतान्यपि।
न शुद्ध्यन्ति दुरात्मानो, येषां भावोन निर्मलः॥

(दक्ष-स्मृति)

जिन लोगों का भाव निर्मल (शुद्ध) नहीं, वे दुरात्मा हजारों मन मिट्टी और सैकड़ों घड़े जल से भी शुद्ध नहीं किये जा सकते।

"भावेहि विद्यते देवस्तस्माद्भावोहि कारणम्।"

भाव में ही देवता बसते हैं, अतः भाव ही प्रधान है।

भाव ही सब कुछ है। इसी भाव के प्रभाव से लोग ईश्वर तक को प्राप्त कर लेते हैं। पर वह भाव होना चाहिये सच्चा; जिस पुरुष का भाव निर्मल है, उसे संसार ही निर्मल दिखलाई पड़ता

है, और जिसका पापमय है, उसे सब कुछ दूषित ही ज्ञात होता है। क्योंकि कहा गया है:—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
(तु० रामायण)

इसलिये भाव की निर्मलता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ब्रह्मचर्य के लिये यह नितान्त आवश्यक है। इस भाव से संसार की सभी स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी दिखलाई पड़ेंगी और समस्त पुरुष सदाचारी ज्ञात होंगे। फिर तो व्यभिचार के लिये कोई कारण ही न मिल सकेगा। जिसके भाव में निर्मलता है, वह औरों के हृदय को भी बदल सकता है। जैसे, चन्दन जिस वन में रहता है, अपनी सुगन्धि से और वृक्षों को भी सुगन्धित कर देता है। अतएव सदा अपने हृदय में शुद्ध भावों को स्थान देना चाहिये। और बुरे विचारों के आते ही भगवद्भजन या महात्माओं के उपदेशों का स्मरण करना चाहिये।

---

(३८) ज्ञानेन्द्रियों पर संयम

'बुद्धीन्द्रियाणां पञ्चैव; शब्दाद्या विषया मताः।'

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, और शब्दादि इनके पाँच विषय माने गये हैं।

वे इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा अन्तरात्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है, ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। ये पाँच हैं। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये पाँच क्रम से उनके विषय हैं।

श्री भगवद्गीता में लिखा है कि यदि समस्त इन्द्रियों में किसी एक इन्द्रिय का भी द्वार खुला रह जाय, तो मनुष्य की सुबुद्धि इस प्रकार नष्ट होने लगती है जिस प्रकार कि मशक (पानी का थैला) में एक छिद्र हो जाने से सारा पानी उस में का बह जाता है।

वीर्य-नाश से बचने के लिये ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार जमा लेना अत्यन्त उपयोगी है। वे लोग कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, जिनकी ज्ञानेन्द्रियां अपने अपने विषयों में स्वतन्त्र हो कर विचरण करती हैं।

अब हम इनके संयम के लिये कुछ उपाय बतलाते हैं:—

शब्द का ग्रहण कान से होता है। जैसे शब्द कान में पड़ते हैं, वैसा ही हृदय पर प्रभाव होता है। इसलिये कानों से किसी प्रकार के अश्लील शब्द न सुनने चाहियें। व्यभिचार की कथा, दूषित भाव उत्पन्न करने वाली बात और आत्मोत्साह को हीन करने वाली युक्तियों के सुनते सुनते यह इन्द्रिय वश के बाहर हो जाती है। इसे वश में करने के लिये सदुपदेश और वेद-मन्त्रों के घोष को सुनना चाहिये।

स्पर्श का अनुभव त्वचा से होता है। जैसी वस्तु त्वचा से छुई जाती है, वैसी ही इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिये इससे कोई ऐसी वस्तु न छूनी चाहिये, जिससे काम-वासना को सहायता मिले। जैसे, कोमल शय्या पर शयन करना, तरुणी स्त्री का कर-स्पर्श करना और शरीर पर सुन्दर-सुखद वस्त्र धारण करना। इन कार्यों से यह इन्द्रिय वशवर्त्तिनी नहीं रह सकती। अतः इस के विपरीत कार्य करने में ही हित है।

रूप का ज्ञान आँखों से होता है। यह इन्द्रिय भी बड़ी बलवती है। बार-बार युवती स्त्री पर दृष्टिपात करने, अश्लील नाटक देखने, नग्न स्त्रियों के चित्रों को निहारने और पशु-पक्षियों की क्रीड़ा विलोकने से यह इन्द्रिय स्वतन्त्र हो जाती है। इसलिये इसे अपने वश में करने के लिये ईश्वरीय सृष्टि, प्राकृतिक सुन्दरता और दिव्य मूर्तियों के देखने का अभ्यास करना चाहिये।

रसका आनन्द जीभ से लिया जाता है। यह सदैव सरस पदार्थों पर दौड़ती है। अधिक मीठे, अधिक तीते, अधिक खट्टे, अधिक चिकने और अधिक कड़वे पदार्थों के सेवन से यह बिगड़ जाती है। इसे वश में करने के लिये यह उपाय है कि यह जो चाहे, उसे देवे ही नहीं। मिठाईयों का रस लेना चाहे, तो इसे चने चबवाना चाहिये। इस प्रकार इसकी लोलुपता कम हो जायगी। इसे वही और उतना ही पदार्थ सेवन के लिये देना चाहिये, जितने से स्वास्थ्य और ब्रह्मचर्य बना रहे।

गन्ध का अनुभव नाक से होता है। इसे दुर्गन्धित वस्तुओं के सूँघने से बचाना चाहिये। कामोत्पादक सुगन्धित पदार्थ भी इसे न देना ही ठीक है। इससे स्वास्थ्यप्रद वायु और दूर से फूलों की सुगन्धि ही लेनी चाहिये। इसे भी सदैव वश में रखना आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रियों के संयम से मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर सब पर अधिकार प्राप्त होता है। और सत्कर्त्तव्यों का पालन हो सकता है। तथा योग की सिद्धि भी हो सकती है।

---

(३६) ब्रह्मचारियों की चर्चा

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च, नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य, सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्।

(मनुस्मृति)

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम तथा तप या दूसरे कोई कार्य सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।

वीर्य-रक्षा के लिये ब्रह्मचारियों की चर्चा बहुत हितकारिणी होती है। ऐसी चर्चा करने या सुनने से ब्रह्मचर्य के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और आत्मिक साहस पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है। जब यह बात ज्ञात होती है कि अमुक ब्रह्मचारी ने इस इस प्रकार के कार्य किये, तथा इस इस उपाय से अपनी वीर्य-रक्षा की, तो हृदय में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि हम भी उनके अनुकरण से अपने को संयमी बना सकेंगे। यह कोई कठिन काम नहीं है। वे भी तो हमारे जैसे मनुष्य ही थे?

संसार में आज तक प्रायः जितने सत्कर्म हुये हैं, उनमें ब्रह्मचारियों का विशेष हाथ रहा है। मनुष्य जाति पर उनके परोपकार का अदेय ऋण लदा हुआ है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उस ऋण का कुछ सूद दिया जा सकता है। अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चाहिये कि उन लोगों के दिव्य चरित्र की चर्चा करें, और भरसक उनके आदर्शों पर चल कर ब्रह्मचर्य रूपी अमृत पीकर अपने हृदय को तृप्त करें।

---

(४०) मृत्यु-भय

अजरामरवत्प्राज्ञो, विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

(नीतिशास्त्र)

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या और धन का संग्रह करे। किन्तु धर्म इस प्रकार करता रहे कि जैसे मृत्यु उसके शीश पर नाच रही हो।

यह सभी लोग जानते हैं कि जिसका जन्म होता है, एक न एक दिन वह मरता भी अवश्य है। भगवान् राम तथा श्री कृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों को भी क्रूर काल ने नहीं छोड़ा, फिर साधारण लोगों की तो बात ही क्या!

मृत्यु का भय निस्संदेह सभी भयों से भारी होता है। जो किसी से न डरता हो, वह मृत्यु के नाम से डर जाता है। इस लिये जब हृदय में काम-विकार उत्पन्न हो, तब मृत्यु के विषय की चिन्ता कर भयभीत हो जाने से वीर्य-रक्षा हो सकती है। उस समय यह सोचना चाहिये कि मृत्यु से बचना कठिन है। फिर किस दिन के लिये इन्द्रिय-सुखों में पड़ कर पाप करूँ! ब्रह्मचर्य के पालन से मृत्यु के दिन दूर किये जा सकते हैं पर वीर्य-नाश से वह बहुत समीप आ जाती है। अतएव मैं वही उपाय करूँगा, जिससे मैं अधिक दिनों तक इस संसार में जी सकूँ। और मृत्यु के मुख में पड़ने वाला कष्ट शीघ्र ही न अनुभव करूँ।

मृत्यु-भय से नीचे लिखे लाभ होते हैं:—

(१) मृत्यु-भय से मनुष्य कभी आलसी और अनुत्साही नहीं हो पाता। (२) सदैव पुण्य और परोपकार में लगा रहता है। (३) किसी को कष्ट देने या दुर्वचन कहने का साहस नहीं करता तथा (४) सद्व्यवहार और धार्मिक कार्यों में रत रहता है।

---

(४१) व्यसन-त्याग

उत्तम शिक्षा के अभाव तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से इस देश में बुरे व्यसनों का साम्राज्य सा स्थापित हो गया है। इन दुर्व्यसनों में अबोध लोग तो पड़े ही हैं पर हमारे बहुत से विद्वान् लोग भी फैशन के फेर में पड़कर इसके भक्त हो गये हैं। बीड़ी, सिगरेट पान तम्बाकू, भंग यह तो इनका नित्य का भोजन सा हो गया है। दुर्व्यसनों का शरीर और आत्मा पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है, दुर्व्यसनी लोग कभी व्यभिचार से नहीं बच सकते।

मादक द्रव्य सेवन करने से रक्त में एक प्रकार की अस्वाभाविक उत्तेजना होती है। शुरू शुरू में तो मनुष्य को फुरती सी मालूम होती है पर अन्त में उसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। रक्त में अस्वाभाविक उत्तेजना से वीर्य्य पतला पड़ जाता है, पित्त बिगड़ जाता है, आखों की ज्योति क्षीण हो जाती है, छाती दिमाग़ और दिल कमजोर हो जाते हैं अन्त में खाँसी और दमे के रोग इतने पीछे लग जाते हैं कि मनुष्य को मार कर ही छोड़ते हैं। कई लोग बीड़ी सिगरेट आदि को पाखाने साफ़

होने और वात-विकार दूर होने की दवा समझते हैं। पर यह उनका भ्रम है। इससे उनकी आँतें कमज़ोर हो जाती हैं और धीरे-धीरे वे उसके ऐसे गुलाम हो जाते हैं कि बिना बीड़ी सिगरेट के उनका पाखाना ही नहीं उतर सकता। यही हाल गांजा भाँग शराब अफ़ीम आदि का है। अतएव जो लोग अपनी उन्नति करना चाहें, उन्हें कदापि इन दुर्व्यसनों के फेर में न पड़ना चाहिये।

प्राचीन समय में धार्मिक शिक्षा के प्रभाव से बहुत ही कम लोग दुर्व्यसनों में फँसते थे।

जो लोग दुर्व्यसनी थे भी, वे राक्षस और म्लेच्छ कहे जाते थे। पर हाय! आज उसी आर्य-जाति में राक्षसी कार्य के करने वाले सौ में पञ्चानवे हो गये हैं। जो दुर्व्यसन में पड़ा है, वह कभी वीर्य-रक्षा में सफल मनोरथ नहीं हो सकता। छोटे से छोटा दुर्व्यसन भी वीर्य-नाश का बड़ा कारण बन जाता है।

सभ्य और शिक्षित देशों में अब इन मादक द्रव्यों का प्रचार कम होता जाता है। कई देशों में तो इसके लिये कड़े कानून बना दिये गये हैं। चीन और जापान देश की दशा देख लीजिये। चीन में अफीम का प्रचार होने से उसकी कैसी दुर्दशा हो रही है और जापान में इनके लिये कानूनन रोक होने से उसकी कितनी उन्नति हो रही है यह आप प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

---

(४२) उपवास-व्रत

आहारान् पचति शिखी, दोषान् आहार वर्जितः ।

अग्नि से अहार पचता है और उपवास से दोष पचते हैं ।

हमारे हिंदूधर्म-शास्त्रों में उपवास का बहुत महत्व लिखा है । उपवास से शरीर, मन और आत्मा सब ही की उन्नति होती है । शरीर में दोषों के बढ़ जाने से इंद्रियों का वेग बढ़ जाता है और मन काबू से बाहर होने लगता है । उपवास से सब दोष नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वस्थ और हलका सा मालूम होता है । अंग्रेज़ी में कहावत है—Sound body, sound mind. अर्थात् स्वस्थ शरीर के कारण मन भी चंगा रहता है ।

धर्म-शास्त्रों में एकादशी, चतुर्दशी, शिवरात्रि आदि कई तिथियों के दिन उपवास करने की आज्ञा है । धार्मिक महत्व के कारण बहुत से लोग इनका पालन भी करते हैं । पर उपवास के रहस्य को न जानने के कारण लोग उपवास के पहले दिन पेट भर कर खब मिष्टान्न आदि पदार्थ खा लेते हैं । कई लोग फलाहारी उपवास करते हैं और उसमें भी ऐसे ही गुरु पदार्थ खाते हैं । ऐसे नामधारी उपवास से तो न करना ही उत्तम है । वास्तव में उपवास के दिन कुछ भी न खाना चाहिये । दूसरे दिन बहुत हलकी चीज़ खानी चाहिये ।

वीर्य्य-रक्षा में उपवास से बड़ी सहायता मिलती है । विधवायें भी इसकी सहायता से अपनी इंद्रियों को वश में रख सकती हैं । उपवास का दिन हँसी-मज़ाक या खेल-तमाशे आदि में न खोना चाहिये, बल्कि वह दिन भगवद्भजन, उत्तम ग्रंथों का पठन व

श्रवण आदि शुभ कर्मों में व्यतीत करना चाहिये। इस तरह के उपवास से ही वास्तव में शारीरिक और मानसिक लाभ हो सकता है अन्यथा नहीं।

---

(४३) ईश-प्रार्थना

"ईश्वरः सर्व भूतानां, हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

(श्रीकृष्ण)

हे अर्जुन! परमेश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है।

परमेश्वर की सत्ता सब से परे मानी गई है। उसी के जानने के लिये ऋषियों ने अनेक उपाय बतलाये हैं। उसी के पाने के लिये वेदादि सद्ग्रन्थों में ज्ञान और उपासना की युक्तियाँ बताई गई हैं।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसी को परमात्म-तत्व का बोध हो सकता है। इसी के लिये हमारे पूर्वज ऋषि लोग दिव्य-दृष्टि पाने का प्रयत्न करते थे। उत्तमोत्तम स्तुतियों से ईश्वर की उपासना कर अपने चित्त को निर्मल बनाते थे। उनकी प्रार्थना-विधि बड़े महत्व की थी। इसके बल से वे अपने सदाचार की रक्षा करते थे। वास्तव में जो लोग भगवान् के भक्त हैं, उनके हृदय में काम-विकार नहीं बसता। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये परमेश्वर की प्रार्थना बहुत ही उपयोगी है। मन को संयमी और अविकारी बनाने के लिये सदा पवित्र शब्दों वाली भगवान् की प्रार्थनायें करनी चाहिये।

प्रार्थनाओं का प्रभाव हमारे अन्तःकरण पर बहुत उत्तम

पड़ता है। जो प्रार्थना सच्चे हृदय से और सत्कर्तव्य के लिये की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। नम्र और सदाचारी पुरुषों का मन बुरी भावनाओं से छूट कर पवित्र सत्कर्मों की ओर जाता है। वे इसका सदैव आदर करते हैं।

अतएव जो लोग दिन प्रति दिन अपने ब्रह्मचर्य की उन्नति चाहते हों, उन्हें प्रतिदिन तल्लीन होकर परमात्मा का स्मरण करना चाहिये और गद्गद् होकर भगवान से प्रार्थना करना चाहिये:—

हे प्रभो आप अन्तर्यामी हो। मेरे दुर्गुण आप से छिपे नहीं हैं। मुझे ऐसा बल दो कि जिससे मैं सदाचारी बनूं—सत्यनिष्ठ बनूँ—और संसार के मोह-माया-जाल से छूट कर आप में लीन हो जाऊँ। हे नाथ, वह दिन कब आयगा, जिस रोज़ मेरा चित्त रात-दिन आप के ध्यान में ही मग्न रहेगा, मेरे कान सदा आप के गुणों को सुनते रहेंगे, मेरी जिह्वा से सदा सत्य और मीठे वचन निकलेंगे, मेरे हाथ सदा दान देने में और सेवा करने में लगे रहेंगे; मेरा तन, मन, धन और सर्वस्व दीन-दुखियों के दुख दूर करने और उनकी सेवा में काम आवेगा। हे नाथ आओ, आओ, मुझे अपनी शरण में लो और कुमार्ग से दूर कर सुमार्ग की ओर ले चलो।

ऊपर 'वीर्य-रक्षा' के चुने हुये सन्नियम बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त 'वज्रोली-मुद्रा-साधन' और 'कुण्डलिनी-उत्थापन' नाम के दो सदुपाय ऐसे भी हैं, जिनके सिद्ध होने से वीर्य का एक विन्दु भी व्यर्थ नहीं जा सकता। पर वे परम क्लिष्ट और भयङ्कर होने के कारण योगियों के ही योग्य हैं।

३—ब्रह्मचर्य पर स्वदेशी और विदेशी विद्वान्

(भगवान् शङ्कराचार्य)

मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर भूमण्डल में वेदों का प्रचार करूँगा। मेरी समस्त शक्ति अवैदिकता (पाखण्ड) के खण्डन में लगेगी। मुझे विश्वास है कि ब्रह्मचर्य की सहायता से मनुष्य को सब कुछ सुलभ हो सकता है।

प्रिय शिष्यो, आत्म-विजय ही ब्रह्मबोध का मूल है। ब्रह्मचर्य की अखण्डता से परमात्मा का सहज में लाभ होता है।

❀ ❀ ❀

(स्वामी रामतीर्थ)

इन्द्रियों के विषय (भोग-विलास) में सुख को मत ढूँढ़ो ! हे इन्द्रियों के दास ! अपनी इस सुख की निष्फल और बाहरी खोज को छोड़ दो ! अमरत्व का महासागर तुम्हारे भीतर है। स्वर्ग का राज्य तुम्हारे ही भीतर है। वह सब ब्रह्मचर्य से ही सध सकता है।

जैसे दीपक में तेल, बत्ती द्वारा ऊपर को चढ़ता हुआ प्रकाश के रूप में बदल जाता है, वैसे ही वह शक्ति (वीर्य) जिसका कि नीचे की ओर बहाव है, यदि ऊपर की ओर जाने लगे, अर्थात् ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचारी) बन जाय, तो आकर्षण वाली शक्ति, पूर्ण तेज तथा परमानन्द में बदल सकती है।

हनुमान का नाम लेने और ध्यान करने से लोगों में शूरता-

वीरता क्यों आती है ? उन्हें महावीर किसने बनाया ? इसी ब्रह्मचर्य ने !

❀ ❀ ❀

(स्वामी विवेकानन्द)

वीर्य ही साधुता है। दुर्बलता पाप है। बलवान् और वीर्यवान बनने की चेष्टा करो ! उपनिषदों के बलप्रद, आलोकप्रद और दिव्य दर्शन-शास्त्रों का अवलम्बन करो ! अन्य दुर्बलता बढ़ाने वाले विषयों को छोड़ो !

हमें ऐसे ब्रह्मचारी मनुष्य चाहिये, जिनके शरीर की नसें लोहे की भाँति और स्नायु इसपात की तरह दृढ़ हों ! उनकी देह में ऐसा मन हो, जिसका सङ्गठन वज्र से हुआ हो। हमें चाहिये पराक्रम, मनुष्यत्व, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज !

❀ ❀ ❀

(स्वामी नित्यानन्द)

ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिये प्रति समय प्रयत्न करना चाहिये। वीर्य से ही आत्मा (जीव) अमरत्व को प्राप्त होता है। शरीर को संयत और सुयोग्य बनाने के लिये नियत समय तक प्रत्येक स्त्री-पुरुष को ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

(लोकमान्य तिलक)

मैं विद्यार्थियों और युवकों से यही कहता हूँ कि वे ब्रह्मचर्य और बल की उपासना करें। बिना शक्ति और बुद्धि के अपने

अधिकारों की रक्षा और प्राप्ति नहीं हो सकती ! देश की स्वतन्त्रता वीर-व्रतियों पर ही निर्भर करती है !

× × × ×

(कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ)

ब्रह्मचर्य को पुनर्जीवित करने वाले, सारी आयु बाल ब्रह्मचारी रह कर ब्रह्मचर्य का जीवित दृष्टान्त हमारे सामने रखने वाले—महर्षि (दयानन्द) का आदर्श व्यक्तित्व ही है,जो कि हमें उत्साह से मनुष्य-मात्र की सेवा के परम मार्ग पर ले जाता है। उनके जीवन का एक-एक क्षण प्रजा के सुखचिन्तन में बीता ! ईश्वर पर उनके अटल विश्वास ने, उनको सदा सीधे मार्ग पर चलने के लिये, प्रकाश दिया। स्वामीजी का उन्नत व्यक्तित्व (ब्रह्मचर्य-व्रत पालित) हमें जीवन-यात्रा के उचित मार्ग पर चलने के लिये उत्साह प्रदान करता है !

(माननीय मालवीयजी)

अब तो ब्रह्मचारियों का रूप ही बदल गया। कर्ज़न फैशन (Curzon Fashion) चल गया है। गुरु गोविन्दसिंह ने महाभारत पढ़ कर ही क्षत्रियों में शक्ति पैदा की थी। युद्ध से पहले वे दुर्गा की स्तुति करते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य का व्रत दिया, और बतला दिया कि केशों को मत काटो।

शास्त्र कहता है कि ब्रह्मचर्य में ही बल है—शक्ति है। हमारे यहाँ भीष्म और हनूमान, दो ऐसे ब्रह्मचारी हुये हैं जिनकी टक्कर का ब्रह्मचारी और कहीं नहीं मिल सकता ! सदा तर्पण में हम भीष्म का स्मरण करते हैं। जानने वालों के लिये भीष्म आज

भी जीवित हैं। हनूमान—'जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।' बुद्धि-मान, तपस्वी और वीर हुये हैं—मूर्ख नहीं! मैं चाहता हूँ कि इनकी मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर खड़ी हो जायँ। वहाँ वे ही जायँ, जो लँगोट के सच्चे (ब्रह्मचारी) हों। अर्जुन ने ब्रह्मचर्य के कारण ही विजय प्राप्त की थी।

❀ ❀ ❀ ❀

(योगी अरविन्द)

अध्यात्म-विद्या से ही सच्ची स्वाधीनता मिल सकती है! मानसिक दुर्बलता को त्याग देना चाहिये। जो जाति अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ती, वह पतित नहीं हो सकती! ब्रह्मचर्य और योग ही सुक्ख का मार्ग है। तपोव्रत से ही उत्थान होता है। ऋपियों के गूढ़ रहस्यों को समझो! उपनिषदों के उपदेशों पर चल कर ही मुक्ति मिल सकेगी!

❀ ❀ ❀ ❀
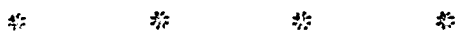
(परमहंस रामकृष्ण)

यह संसार ही मातृमय है! कुभावना के लिये स्थान ही कहाँ! इस विचार से ब्रह्मचर्य के पालन में कठिनता क्या है? माता स्वयं अपने पुत्रों की रक्षा करती है।

(स्वामी सत्यदेव)

संसार वीर्यवान् के लिये है! वीर्यवती जातियों ने संसार भर में राज्य किया! और वीर्यहीन होने पर उनका अस्तित्व मिट गया।

यदि संसार में रह कर, अपने जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने की आकांक्षा है, तो इस रत्न (वीर्य) की रक्षा करने में अपनी शक्तियों को लगा कर, इसके द्वारा दैवी गुणों को प्राप्त करने में कटिबद्ध रहना चाहिये !

❀ ❀ ❀ ❀

(भारत-भीम 'राममूर्ति')

भीमसेन तथा हनूमानजी के चित्र मेरे मानसिक पटल पर खिंच रहे थे । मैंने विचार किया कि उनके समान न सही, पर अपने शरीर को अवश्य ही पुष्ट बना सकता हूँ ।

भगवद्गीता तथो शुश्रुतादि आयुर्वेदीय ग्रन्थों का मैंने अवलोकन किया । अपने शास्त्रों के अध्ययन से मुझे शारीरिक उन्नति का सर्वोत्तम उपाय ब्रह्मचर्य सूझ पड़ा ! मैंने और सब अभ्यासों को छोड़ कर उसी को ग्रहण किया और यह बात प्रकट कर दिखलाई कि भीमसेन, द्रोणाचार्य आदि हमारे महामहिमान्वित पूर्वजों के गौरव को बढ़ाने वाली, भारतवासियों की वही सर्वश्रेष्ठ (वीर्य-रक्षण और प्राणायाम युक्त) व्यायाम-प्रणाली थी ।

* * * *

(एक विद्यार्थी 'सरस्वती')

वह कैसा उत्तम समय था, जब ऐसे (भीष्म जैसे) सदाचारी पुरुष होते थे । आज चाहे हम अपनी मूर्खता से ब्रह्मचर्य पर उपहास करें, परन्तु समय आवेगा, जब संसार इन्हीं (ब्रह्मचर्य के) नियमों को पुनः ग्रहण करेगा !

❀ ❀ ❀ ❀

(एक दार्शनिक विद्वान्)

सदाचार संसार की सभ्यता का मूल है। ब्रह्मचर्य सदाचार का बीज है। इसके अभाव में कोई जाति अपना अधिक दिनों तक अस्तित्व नहीं रख सकती। विलासिता वह राक्षसी है, जो उस बीज को निर्मूल करने में लगी रहती है।

❀ ❀ ❀ ❀

(महात्मा ईसा मसीह)

परमात्मा के राज्य में प्रिय बनने के लिये अविवाहित जीवन बिताना धर्म है। संयम और पवित्रता से ब्रह्मचर्यमय रहने का ही स्वर्गीय आदेश है।

* * * *

(महात्मा सुकरात)

संसार में मनुष्य को अपने जीवन निष्पाप (व्यभिचार शून्य) तथा उच्च सदाचार युक्त बनाने में ही वास्तविक सुख है।

* * * *

(महात्मा टालस्टाय)

मेरा मत है कि मनुष्य-जाति में सुख-शान्ति को स्थापित रखने के लिये, पुरुष और स्त्री—दोनों को सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने का उद्योग करना श्रेयस्कर है। दोनों को सावधानता तथा दृढ़ता-पूर्वक इस संयमशीलता का अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार के आचरण से वे अपने उच्च उद्देश्य की सिद्धि करने में समर्थ होंगे। लक्ष्यवेध करने के समय अपने तीर को उससे

कुछ ऊपर छोड़ना पड़ता है। ऐसा करने से ही वह अपने कार्य में सफल हो सकता है। उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने जीवन का उद्देश्य ऊँचा रखना चाहिये, तभी उसे सच्ची सफलता मिल सकती है। यदि यह विषयभोग को ही अपना लक्ष्य बना लेगा, तो वह अवश्य असफल हो जायगा—वह उस से नीचे गिर पड़ेगा। यदि मनुष्य शारीरिक आनन्द के लिये नहीं, वरन् आत्मिक आनन्द के पाने के लिये सदैव प्रयत्न शील रहेगा, तो वह कहीं साधारण जीवन पर ठहर सकेगा। यदि वह पहले ही से विषयलोलुपता के कारण अपना साहस खो देगा, तो वह अत्यन्त पतित हो जायगा !

❀ ❀ ❀ ❀

(डाक्टर जी० एम० बियर्ड)

जननेन्द्रिय, मस्तिष्क और पाकस्थली, इन तीनों में अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानों ये तीनों एक ही सूत्र में ग्रथित हैं। पहली एक के रुग्ण होने से पिछली दोनों भी रोग से नहीं बँच सकतीं।

❀ ❀ ❀ ❀

(डाक्टर पी. टी. हार्न)

वीर्य ही मनुष्य-शरीर का जीवन है। इसके बिगड़ने से रक्त का नाश होता है और अन्त में सुधरना असम्भव हो जाता है। इन्द्रिय सम्बन्धी सुखों में आवश्यकता से अधिक लगनेवाले ही भयङ्कर रोगों से घिरे रहते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

ऊपर के पाश्चात्य देश के कई दार्शनिक तत्ववेत्ताओं ने भी ब्रह्मचर्य के पालन में, मानव-जाति के स्वाभाविक उत्थान, गुणोदय एवं आध्यात्मिक आदर्शों के दर्शन किये हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने लेखों तथा ग्रन्थों में उसकी विवेचना करके, उस सत्य का मुक्त हृदय से समर्थन किया है।

इनके अतिरिक्त बहुत से बड़े-बड़े डाक्टरों तथा लुकमान, जालीनूस तथा बूअलीसीना आदि हकीमों ने भी वीर्य-रक्षण को जिस्मानी और रुहानी ताकत के लिये आवश्यक माना है। और इन्द्रिय-निग्रह से इस अमूल्य पदार्थ को सुरक्षित रखने की बात कही है। अतः इतने से ही सावधान हो जाना चहिये !

४—आवश्यक सन्देश

आहार निद्रा-भय-मैथुनञ्च—
सामान्य मेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो,
ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चारों मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से विद्यमान हैं। पर मनुष्यों में ज्ञान विशेष रूप से अधिक है। इसीलिये मनुष्य संज्ञा हुई। जो लोग इससे हीन हैं, वे फिर पशु ही के तुल्य हैं।

सारे प्राणियों में मनुष्य ज्ञानवान प्राणी है। वह तर्क-वितर्क द्वारा हिताहित तथा कारण-कार्यों का निर्णय कर सकता है। इसीलिये वह सर्व-श्रेष्ठ माना जाता है।

चौरासी लक्ष जीव योनियों में यह सब से श्रेष्ठ योनि मानव-

शरीर है। इसलिये यह सब से मूल्यवान है। यदि इसे प्राप्त कर किसी प्रकार की असावधानी की गई, तो फिर कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, जिनमें प्राणी को सद्ज्ञान मिलना बहुत कठिन है।

ऊपर कहा गया है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह क्यों? ज्ञान के कारण—मानव-शरीर सब से मूल्यवान है। वह क्यों? चौरासी लक्ष जीव-योनियों में सब से उच्च होने से। यदि यह बात है, तो उसका जीवन भी सब से श्रेष्ठ होना चाहिये। यदि जीवन श्रेष्ठ है, तो फिर उसका उद्देश्य भी सर्वश्रेष्ठ होना चाहिये। और उस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये श्रेष्ठ कर्म का भी होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है, और उस तक पहुँचने के लिये फिर क्या उद्योग करना चाहिये? वह हम नीचे लिखते हैं:—

मनुष्य जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है—सुख-शान्ति के साथ परमानन्द परमात्मा को प्राप्त करना—और इसे साधने वाला सब से बड़ा कर्म है—संयमशील ब्रह्मचर्य। बस! इसी उद्देश्य की प्राप्ति और इसी कर्म के करने के लिये वैदिक काल से प्रयत्न होता आ रहा है। मनुष्य-जाति के विविध मत-मतान्तरों के धर्म-ग्रन्थों का सार तत्व भी यही है। संसार में सब धर्मों के ऋषि-मुनियों ने भी अपने जीवन में इसी के लिये प्रयत्न किया है।

मनुष्य-जीवन का उद्देश्य, क्षणिक और कृत्रिम सुख नहीं, जो कि विषयोपभोग से मिलता है। वह तो पशुओं—नहीं, नहीं—राक्षसों का उद्देश्य और कर्म है। वास्तव में मनुष्य के गुण—

सत्यनिष्ठा, शील, बल, विद्या, सदाचरण, परोपकार, साहस, तेज, उत्साह, धैर्य, जीव-दया, विश्वप्रेम, भ्रातृ-भाव तथा सत्सुधार आदि हैं। कायरता, द्वेष, दम्भ, असत्य, कलह, निन्दा, विवाद, हठ, अपकार, अन्याय, रुग्णता, भय, इन्द्रिय-लोलुपता, असहिष्णुता तथा क्रोध आदि तो दुर्गुण ही कहे जायँगे। गुणों के द्वारा ही सत्कर्म करके सदुद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। दुर्गुणों के वशीभूत होने से तो दुष्कर्म और पतन होता है।

ब्रह्मचर्य के पालन में स्थायी सुख और सद्गुण वास करते हैं। विषयभोग तो क्षणिक आनन्द (जिसका फल दुःख होता है) और दुर्गुणों का घर है। एक अमृत-फल है तो दूसरा विष-फल। पहले के चखने का परिणाम 'जीवन' और दूसरे का 'मरण' है। पहला स्वर्ग और दूसरा नरक में भेजनेवाला है।

आप जीवन के सार को समझ गये होंगे। अब आप अमर-फल खाकर स्वर्गीय सुख भोगना चाहते हैं या कटु विषाक्त-फल खाकर नारकीय दुःख? आपकी अन्तरात्मा तो पहले की ही ओर है। दूसरे से सब को घृणा होगी और यही उचित भी है। पर मनुष्य इंद्रियों के मोह में पड़ कर अपनी आत्मा की आवाज़ पर ध्यान नहीं देता और इसीलिये कष्ट पाता है। अतः हे पिताओ और भ्राताओ! आप लोग हनूमान, भीष्म, शङ्कराचार्य, दयानन्द और विवेकानंद बनने का सदैव उद्योग करो! उसी प्रकार से माताओ और बहिनो! आप भी सरस्वती, वेदवती, अरुन्धती, पार्वती और सीता का अनुकरण करो! यही हमारा आवश्यक तथा अन्तिम सन्देश है। शुभमस्तु!

ब्रह्मचर्य-विनय

(षट् पदी छन्द)

ऐ ऋषियों का परम ध्येय दुख दरने वाला !
तेज तथा उत्साह-ज्ञान से भरने वाला ॥
तेरी महिमा जान मनुज होता है नामी।
तू है जग का तत्व गुणों में है अभिरामी ॥
तेरी सेवा से सदा, मिलती सच्ची मुक्ति है।
तुझसे बढ़ स्वातंत्र्य की, अपर न कोई युक्ति ॥

तू ही सब विज्ञान-ज्ञान का देने वाला।
तू कर देता काम देव का है मुख काला ॥
तुझ से ही सब धर्म कर्म हैं उज्जल होते।
तुझे धार धीमान बीज उन्नति के बोते ॥
तेरा यश त्रैलोक्य में, पावन और ललाम है।
ब्रह्मचर्य ! मन में रमे, तुझको विनय-प्रणाम है ॥

कविपुष्कर